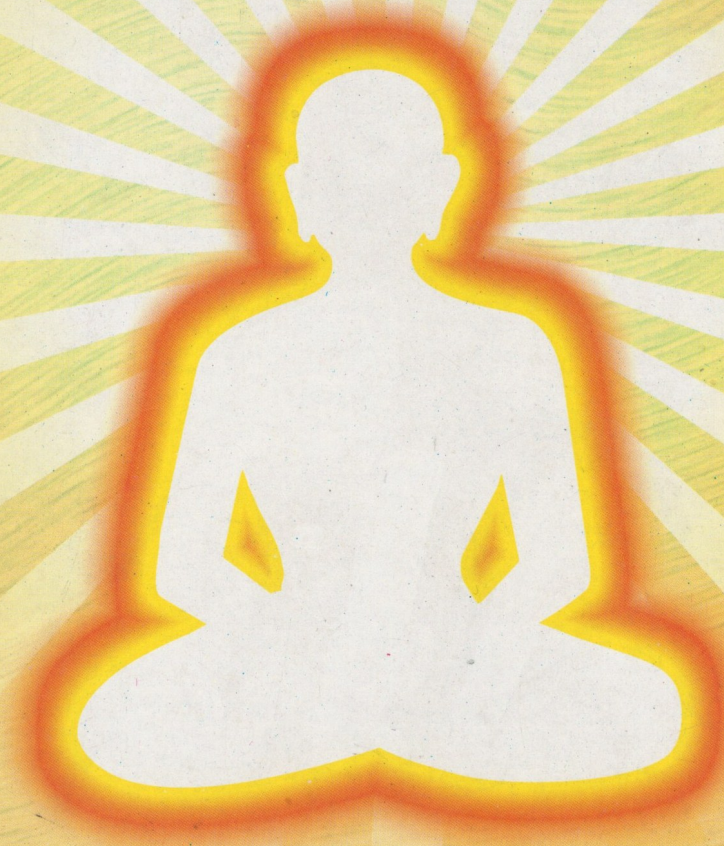


स्वरूप-सम्बोधन



- भट्ट अकलंकदेव



श्री स्वयंशुद्धात्मने नमः

श्रीमद्भट्टाकलंकदेव-प्रणीत

स्वरूप-सम्बोधन

(श्लोकार्थ, पद्यानुवाद सहित

दो संस्कृत टीकाओं का शब्दशः हिन्दी अनुवाद)

हिन्दी अनुवादिका-सम्पादिका

ब्र. कल्पना जैन सागर, एम.ए., शास्त्री

प्रकाशक

श्री कुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट

173/175, मुम्बादेवी रोड, मुम्बई



प्रथमावृत्ति : १५०० प्रतियाँ

(दि. २१ अप्रैल २००४)

पू. गुरुदेवश्री कानजी स्वामी की ११५ वीं जन्म-जयन्ती

मूल्य : १० रुपये

प्राप्ति स्थान :

- ❖ श्री कुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट
173/175, मुम्बादेवी रोड, मुम्बई-400002
- ❖ पण्डित टोडरमल स्मारक भवन
ए-4, बापूनगर, जयपुर-302015 (राज.)
- ❖ श्री वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
पुरानी मण्डी, अजमेर (राज.)
- ❖ पूज्यश्री कानजी स्वामी स्मारक ट्रस्ट
कहान नगर, लामरोड, देवलाली, जि. नासिक (महा.)
- ❖ आत्मसाधना केन्द्र
नीलवाला रोड, घेवरा मोड़, नई दिल्ली-41
- ❖ श्री परमागम मन्दिर ट्रस्ट
पो. तीर्थक्षेत्र सोनागिर, जि. दतिया (म.प्र.)

मुद्रण व्यवस्था :

देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

मोबा. 9829083628

प्रकाशकीय

वर्तमान में १००८ भगवान महावीर स्वामी का धर्मशासन प्रवर्तमान है। भगवान महावीर स्वामी का २५०० वाँ निर्वाण महोत्सव सम्पूर्ण देश-विदेश में अत्यन्त प्रभावपूर्वक मनाया गया था। इसी वर्ष ज्ञानतीर्थ सोनगढ़ में परमागम मन्दिर का भव्य प्रतिष्ठा महोत्सव पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी की उपस्थिति में मनाया गया। प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर ही दिगम्बर जैन संघ के प्राचीन तीर्थक्षेत्रों की सुरक्षा के लिए मुमुक्षु समाज को विशेष योगदान प्रदान करना चाहिए - ऐसी भावना के फलस्वरूप श्री कुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट की स्थापना धर्मरत्न पण्डित बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता फतेपुर के अथक् प्रयत्नों से की गई। ट्रस्ट के स्थापकों ने तीर्थसुरक्षा के साथ ही जिनवाणी की सुरक्षा का कार्य भी स्वीकृत किया। तत्पश्चात् पूज्य गुरुदेवश्री की ८७ वीं जन्म-जयन्ती दादर में मनाई गई, तब साहू शान्तिप्रसादजी जैन ने संस्था का विधिवत् उद्घाटन किया और पुनः पूज्य गुरुदेवश्री का मंगल आशीर्वाद प्राप्त हुआ।

अपने पच्चीस वर्षीय संक्षिप्त कार्यकाल में प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक आक्रमणों से तीर्थक्षेत्रों का तथा जिनवाणी का संरक्षण करने में अपना गतिशील योगदान देकर समाज का मन मोह लिया और सम्पूर्ण देश में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट की सर्वोन्मुखी प्रगति स्व. पण्डित श्री बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता की दूरदृष्टि और कार्यक्षमता का सुखद फल है। उनका स्वप्न साकार होते देखकर सभी को आनन्द होना स्वाभाविक है।

तीर्थक्षेत्रों की सेवा - तीर्थ हम सभी आत्मार्थियों के लिए आत्मोत्थान की प्रेरणा के स्तोत्रधाम हैं। तीर्थक्षेत्रों, अतिशयक्षेत्रों अथवा सिद्धक्षेत्रों के जिनमन्दिर, प्रतिमा, टोंक, चरण तथा अन्य धर्मायतन काल और प्राकृतिक प्रभाव के कारण कमजोर हों, तब उनका जीर्णोद्धार करना आवश्यक

होता है। यात्रियों की सुविधा की भी समुचित व्यवस्था होवे तो वे पावनक्षेत्र पर अधिक ठहरकर वहाँ के वैराग्यप्रेरक वातावरण का लाभ ले सकते हैं। यह ट्रस्ट तीर्थों तथा प्राचीन जिनमन्दिरों के जीर्णोद्धार के लिए नियमितरूप से गतिशील है।

शिखरजी तीर्थ पर गत ३-४ वर्षों में ६ कि.मी. का पक्का रोड निर्माण व समस्त टोकों का जीर्णोद्धार कार्य भी अच्छी तरह सम्पन्न हुआ है।

तीर्थक्षेत्रों के व्यवस्थित और योजनाबद्ध विकास तथा सुरक्षा के ध्येय को लक्ष्य रखते हुए तीर्थों के सर्वेक्षण की योजना क्रियान्वित की गई। अनेक तीर्थक्षेत्रों ने अपने विकास के लिए 'मास्टर प्लान' बनाकर वहाँ दिगम्बरों के हक के दस्तावेजों को व्यवस्थित बनाकर संग्रहीत किया है। संघ के इतिहास में तीर्थ सर्वेक्षण की यह योजना अभूतपूर्व रही है। इस कार्य में पण्डित ज्ञानचन्द्रजी विदिशा का महत्त्वपूर्ण अविस्मरणीय योगदान रहेगा।

जैन सम्प्रदायों में प्रवर्तते तीर्थक्षेत्रों के विवाद के सम्बन्ध में समाज में जो जागृति आई है, उसमें अपनी संस्था का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अंतरीक्ष पार्श्वनाथ (शिरपुर) के संदर्भ में सुरक्षा के जो प्रयत्न हुए हैं, उनमें अपने ट्रस्टी बा.ब्र. पण्डित धन्यकुमारजी बेलोकर का सिंहवृत्ति रूप योगदान रहा है।

विगत दस वर्षों से शाश्वत तीर्थराज सम्मेलन शिखर में दिगम्बर जैन संघ और यात्रियों के हक पुनः हासिल करने के लिए सक्रिय आन्दोलन चल रहा है। इस भागीरथ कार्य को सिद्ध करने में हमें आंशिक सफलता मिल रही है। दिल्ली में डेढ़ लाख जैन समुदाय की रैली के उपरांत तीर्थ की टोंक पर पहुँचने के लिए ४ कि.मी. का पक्का रोड बनाना, पहाड़ पर डाक बंगले का संचालन, यात्रियों की व्यवस्था में अनेकविध अभिवृद्धि तथा माताघर का नवीनीकरण आदि योजनायें संचालित की जा सकी हैं। तीर्थक्षेत्रों की व्यवस्था और सुरक्षा के लिए दिगम्बर जैनसमाज को

एकतापूर्वक शक्ति के संचयरूप ध्येय की प्राप्ति से अपने को नजदीक ले जा रहा है। भारतवर्षीय दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के सहकार्यकारी के रूप में इस ऐतिहासिक प्रकरण में भागीदार होने का सौभाग्य अपनी संस्था को प्राप्त हुआ है। कमेटी के मंत्रीरूप में मेरी नियुक्ति होने से दोनों संस्थाओं द्वारा तीर्थक्षेत्रों की सेवा करने के महत्त्वपूर्ण सत्कार्य में विशेष शक्ति का संचय हुआ है। तीर्थक्षेत्रों की सेवा के लिए समाज को साहु अशोककुमारजी के प्रभावशाली नेतृत्व का लाभ मिल सका - यह गौरवगाथारूप है। समाज में तीर्थ सुरक्षा के भागीरथ कार्य हेतु एकता का वातावरण बन रहा है।

महाविद्यालय का संचालन - माँ जिनवाणी के आत्मप्राप्ति के मंगल संदेश जन-जन तक पहुँचाने का ध्येय मर्मज्ञ विद्वानों के अभाव में संभवित नहीं होता। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट द्वारा पण्डित टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर में श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय का प्रारम्भ किया गया है। आज इस महाविद्यालय ने सम्पूर्ण देश में अध्यात्म का डंका बजा दिया है।

निरन्तर अध्ययन-मनन-चिन्तन तथा एकमात्र स्वहित की रुचि इस महाविद्यालय की विशेषताएँ हैं। वस्तुतः तो इसप्रकार की आध्यात्मिक क्रान्ति पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मंगल उपदेश का फल है। उनकी पुण्य प्रभावना के उदय में लाखों श्रावक-श्राविकायें दैनिक अभ्यास करके आत्मसिद्धि के कल्याणपथ में संलग्न हुए हैं।

इस महाविद्यालय के विद्यार्थी श्री दि. जैन संस्कृत कॉलेज, जयपुर द्वारा राजस्थान विश्वविद्यालय की जैनदर्शन में शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण करते हैं। यह परीक्षा बी.ए. के समकक्ष है। इस अभ्यास क्रम के उपरान्त अपने विद्यार्थियों को श्री वीतराग-विज्ञान परीक्षा बोर्ड, जयपुर की प्रवेशिका, विशारद आदि परीक्षाएँ भी दिलवायी जाती हैं। संक्षिप्त में यह विद्यालय चारों अनुयोगों में पारंगत विद्वान तैयार करने की प्रयोगशाला है।

हर्ष का विषय यह है कि अपने विद्यार्थी प्रतिवर्ष राजस्थान विश्वविद्यालय एवं बोर्ड की परीक्षा में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करते आये हैं।

विगत छह-सात वर्षों में महाविद्यालय में अधिक छात्रों को प्रवेश देने के लिए श्री मगनमल पाटनी ट्रस्ट मुम्बई, श्री वीतराग-विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट अजमेर तथा पूज्य श्री कानजी स्वामी ट्रस्ट देवलाली आदि का सक्रिय सहयोग भी संस्था को प्राप्त हो रहा है। इस महाविद्यालय का सफल निर्देशन प्रसिद्ध विद्वान डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल कर रहे हैं। पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट का सम्पूर्ण सहयोग विद्यालय को नियमितरूप से प्राप्त हो रहा है एवं प्राचार्य के रूप में पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल की सेवायें प्राप्त हो रही हैं। बाल ब्र. जतीशचन्दजी शास्त्री, पण्डित पूनमचन्दजी छाबड़ा, पण्डित शांतिकुमारजी पाटील एवं पण्डित संजीवकुमारजी गोधा आदि की अनेकविध सेवायें संस्था को प्राप्त हो रही हैं।

अपनी संस्था की जयपुर की समस्त गतिविधियों के स्थापक स्व. श्री नेमीचन्दजी पाटनी का सहयोग जीवनभर संस्था को प्राप्त रहा है। आज आपका वियोग संस्था, महाविद्यालय एवं मुमुक्षु समाज की अपूरणीय क्षति है।

अभी तक महाविद्यालय के माध्यम से समाज को ३३१ शास्त्री विद्वान, जिनमें ४४ जैनदर्शनाचार्य भी हैं, प्राप्त हो चुके हैं तथा वर्तमान में १७७ विद्यार्थी अध्ययनरत हैं।

विद्यार्थियों को जैनदर्शन के शिक्षण के उपरांत आध्यात्मिक, सदाचारमय एवं सेवाभावी जीवनवाला बनाना ही इस विद्यालय का उद्देश्य रहा है।

सत्साहित्य विभाग - पूज्य गुरुदेवश्री के देह विलय के पश्चात् पूज्य आचार्यों के वृहद् मूलग्रंथों को समाज तक पहुँचाते रहने का कार्य अपनी संस्था ने निभाया है। इस दिशा में संस्था ने महत्त्वपूर्ण कदम उठाते हुए लगभग पाँच लाख की राशि के पंच परमागम व अन्य ग्रंथों का प्रकाशन जयपुर में सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग खोलकर किया है। जिसके द्वारा पंचपरमागमों के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा में मोक्षमार्गप्रकाशक

का प्रकाशन हो चुका है, अन्य भी कई ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। जिनकी आवृत्तियाँ निरन्तर प्रकाशित हो रही हैं। गुजराती भाषा में आत्मानुशासन, योगसार एवं रत्नकरण्ड श्रावकाचार का प्रकाशन भी इस श्रृंखला में उल्लेखनीय कड़ी है।

तदुपरान्त तत्त्वप्रचार के उद्देश्य से विद्वानों के प्रोग्राम एवं आवश्यकता अनुसार स्वाध्याय भवन निर्माण के लिए आर्थिक सहयोग भी दिया जाता है। अभी तक २५ स्थानों पर नये स्वाध्याय भवनों का निर्माण हो चुका है। स्वाध्याय भवन के लिए वर्तमान में १ लाख रुपये की सहायता स्वीकृत की जाती है।

संस्था की गतिविधियों से समाज को परिचित कराने एवं ध्रुवफण्ड में दान संकलन के उद्देश्य से एक प्रतिनिधि मण्डल ब्र. जतीशचन्दजी शास्त्री, सनावद के साथ देश में भ्रमण कर चुका है, जिसे समाज का आशातीत सहयोग प्राप्त हुआ है।

सर्वोदय सहायता योजना - आर्थिक दृष्टि से कमजोर साधर्मियों को विशेष बीमारी एवं अपने बालकों की उच्च शिक्षा के लिए सर्वोदय ट्रस्ट के अन्तर्गत श्री कहान राज सर्वोदय सहायता योजना का प्रारंभ किया गया है। इच्छुक साधर्मियन ट्रस्ट कार्यालय से संपर्क कर इसका भी लाभ ले सकते हैं।

आभार प्रदर्शन - ट्रस्ट की स्थापना काल से ही पं. श्री बाबूभाई मेहता, मु. श्री रामजीभाई दोशी, पं. श्री खीमचंद जे. सेठ, पं. श्री लालचंदभाई मोदी, वर्तमान अध्यक्ष बाबू जुगल किशोरजी 'युगल', पं. श्री धन्यकुमारजी बेलोकर, श्री सुमनभाई दोशी (दोनों उपाध्यक्ष) श्री (स्व.) माणिक्यलाल आर. गांधी, श्री शान्तिभाई झवेरी के मार्गदर्शन एवं सहयोग का लाभ मिलता रहा है। इनके तथा अन्य महानुभावों की सलाह-सूचना के बिना संस्था सफलता प्राप्त नहीं कर सकती थी। पं. श्री उत्तमचन्दजी सिवनी, समाजरत्न श्री अमृतभाई मेहता, श्री आलोककुमार जैन कानपुर ट्रस्टी हमें सहायता कर रहे हैं।

प्रकाशन शृंखला को आगे बढ़ाते हुए सुप्रसिद्ध तार्किक एवं न्यायविद् दिगम्बराचार्य भट्ट अकलंकदेव विरचित लघुकाय अध्यात्म ग्रन्थ 'स्वरूप संबोधन' का प्रकाशन किया जा रहा है। ज्ञात हो कि इस ग्रंथ की दो संस्कृत टीकाएँ भावानुवाद सहित श्री महावीरजी से बहुत समय पूर्व प्रकाशित हो चुकी हैं। इन टीकाओं की उपयोगिता को देखकर पण्डित देवेन्द्रकुमारजी बिजौलियाँ वालों की प्रेरणा से इनका शब्दशः हिन्दी अनुवाद विदुषी बाल ब्र. कल्पनाबेन, सागर ने किया है, साथ ही पद्यानुवाद की रचना करके इस कृति की उपयोगिता में अभिवृद्धि की है।

साथ ही ब्र. कल्पनाबेन द्वारा पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाल कृत, परमात्मपुराण, सवैया टीका, अनुभवानन्द, उपदेशसिद्धान्त रत्न इत्यादि ग्रंथों का हिदी रूपान्तर किया गया है एवं आपके प्रयासों से पण्डितजी का अबतक अप्रकाशित 'अनुभवानन्द' ग्रंथ हमें प्राप्त हो सका है। हम पण्डितजी के सभी उपलब्ध ग्रंथों को भी 'दीपचन्द ग्रंथावली' के नाम से चार खण्डों में प्रकाशित कर रहे हैं। इन सब कार्यों के लिए ब्र. कल्पनाबेन का हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। साथ ही इस प्रकाशन की परिकल्पना के लिए पं. देवेन्द्रकुमारजी भी धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ की कीमत करने में जिन महानुभावों का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है, उनका भी हम हृदय से आभार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत प्रकाशन को आकर्षक एवं सुन्दर रूप प्रदान करने में दिनेश जैन, देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर का भी सहयोग रहा है, अतः हम उनके भी आभारी हैं।

सभी साधर्मीजन इन ग्रन्थ रत्नों का अवगाहन कर शाश्वत सुख के पथिक बनें - यही भावना है।

दि. २१ अप्रैल २००४

बसंतलाल मूलचंद दोसी (सुदास्रणा)

महामंत्री

श्री कुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, मुम्बई

ग्रंथकार और ग्रंथ परिचय

अनेकानेक साक्ष्यों से यह सिद्ध हो गया है कि प्रस्तुत ग्रंथ 'स्वरूप-संबोधन पंचविंशतिका' के रचयिता ईसवी सन् ८वीं शती में भारतभूमि को अलंकृत करनेवाले 'भट्ट अकलंकदेव' हैं।

इस युग में यदि 'आचार्य समन्तभद्र स्वामी' को जैन न्याय का प्रतिष्ठापक आचार्य कहा जा सकता है तो 'भट्ट अकलंकदेव' को जैन न्याय का सम्पोषक-सम्बर्धक आचार्य कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा। आपकी कृतियाँ जैन दर्शन और जैन न्याय की आकर/भण्डार मानी जाती हैं। श्रवणबेलगोला के अभिलेख नं. ४७ में लिखा है कि —

“षट्कर्केष्वकलंकदेवविबुधः, साक्षादयं भूतले ॥

अकलंकदेव षट् दर्शन और तर्क शास्त्र में इस पृथ्वी पर साक्षात् विबुध/वृहस्पति हैं।”

कथाकार नेमिदत्त-कृत 'आराधना कथाकोष' के अनुसार आपका संक्षिप्त जीवन-परिचय इसप्रकार है —

मान्यखेट के राजा शुभतुंग के मंत्री पुरुषोत्तम की पत्नि पद्मावती के गर्भ से अकलंक-निकलंक नामक दो पुत्र-रत्न उत्पन्न हुए।

एक बार आष्टान्हिका महापर्व के प्रारम्भिक दिन सकुटुम्ब मंत्री पुरुषोत्तम को रविगुप्त नामक मुनिराज के सान्निध्य का लाभ प्राप्त हुआ। मुनिराजश्री के सदुपदेश से प्रेरित हो उन्होंने सकुटुम्ब ८ दिन के लिए ब्रम्हचर्यव्रत ग्रहण कर लिया। इसी आधार पर उन दोनों पुत्रों ने युवावस्था में भी विवाह से इन्कार कर सम्पूर्ण जीवन विद्याध्ययन आदि कार्यों में ही व्यतीत करने का दृढतम संकल्प व्यक्त कर दिया। लाचार माता-पिता से स्वीकृति प्राप्त होते ही, तत्कालीन सर्वत्र व्याप्त बौद्धधर्म का समग्र ज्ञान प्राप्त करने के लिए दोनों भाइयों ने छद्मवेश में महाबोधि विद्यालय में अध्ययन प्रारम्भ कर दिया।

सप्तभंगी सिद्धान्त समझाते समय प्रसंगवश इन दोनों भाइयों के जैनत्व

की शंका होने पर गुरु महोदय द्वारा इन्हें जैन प्रमाणित किए जाने पर इन दोनों को कारागृह में बंद कर दिया गया। अवसर पाकर कारागृह से निकल भागने पर पीछा करते हुए घुड़सवारों के डर से एक तालाब में कमल-पत्रों से आच्छादित कर अकलंक ने अपने प्राणों की रक्षा की। निकलंक और एक धोबी को घुड़सवारों ने दोनों भाई समझकर मार दिया। तदनन्तर तालाब से निकलकर अकलंक ने जैनधर्म की सर्वतोमुखी प्रभावना की।

एक बार कलिंग देश के रत्नसंचयपुर नगर के राजा हिमशीतल की राजसभा में चल रहे वाद-विवाद में अकलंकदेव ने बौद्धों को परास्त कर दिया। जिससे अति उत्साह पूर्वक बड़ी धूमधाम से रानी मदनसुन्दरी ने जैनरथ निकालकर जैनधर्म की महती प्रभावना की।

अपनी कृति 'नाममाला' में लिखा गया 'धनञ्जय कवि' का प्रस्तुत वाक्य जैन साहित्य जगत को आपके प्रदेय का परिचय देने के लिए पर्याप्त है —

“प्रमाणमकलंकस्य, पूज्यपादस्य लक्षणम् ।

धनञ्जयकवेर्काव्यं, रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥

अकलंक का प्रमाण, पूज्यपाद का लक्षण/व्याकरण और धनञ्जय कवि का काव्य — ये तीन अपश्चिम/अद्वितीय रत्न हैं।”

आपकी समग्र साहित्य-साधना को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है — टीका ग्रंथ और स्वतंत्र ग्रंथ।

तत्त्वार्थवार्तिक सभाष्य/तत्त्वार्थ राजवार्तिक और अष्टशती/देवागम विवृत्ति — ये दोनों टीका ग्रंथ हैं।

स्वतंत्र ग्रंथों के रूप में १. स्वोपज्ञवृत्ति सहित लघीयस्त्रय, २. न्यायविनिश्चय सवृत्ति, ३. सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति, ४. प्रमाणसंग्रह सवृत्ति, ५. स्वरूप-संबोधन — ये पाँच ग्रंथ सर्वमान्य हैं।

स्वरूप-संबोधन

प्रस्तुत लघुकाय ग्रंथ स्वरूप-संबोधन आध्यात्मिक क्षेत्र की एक अनुपम कृति है। अनेकान्तात्मक आत्मतत्त्व का स्याद्वाद शैली द्वारा

विवेचन कर अति संक्षेप में समग्र मोक्षमार्ग का प्रतिपादक यह ग्रंथ मात्र २५ अनुष्टुप् छंदों में निबद्ध है। प्रारम्भिक ८ छंदों में मुक्त-अमुक्त, एक-अनेक, वक्तव्य-अवक्तव्य आदि परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मों को अनेकान्तात्मक एक आत्मा में घटित कर उसे अनंत धर्मात्मक सिद्ध किया गया है। ९वें और १०वें छंद द्वारा पूर्व प्रकरण का उपसंहार और आगामी प्रकरण की भूमिका प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि जो कर्मों का कर्ता और भोक्ता है, वही अंतरंग-बहिरंग उपायों द्वारा कर्मों से मुक्त भी हो जाता है।

तदनन्तर ११ से १४-४ छंदों द्वारा आत्मस्वरूप की प्राप्ति के उपाय के रूप में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप सम्यक्त्तत्रय की संक्षिप्त किन्तु विशद विवेचना की है। १५वें छंद द्वारा मोक्षप्राप्ति में अंतरंग-बहिरंग कारणों की सन्निधि का नियम कर १६ से २०-५ छंदों द्वारा परम उदासीनता व्यक्त करने के लिए सोदाहरण भेद-विज्ञान की मुख्यतावाला प्रयोगात्मक मार्ग दर्शाया गया है।

२१वें छंद द्वारा आकांक्षा में मोक्ष की अवरोधकता सिद्ध कर, २२वें छंद द्वारा यह सिद्ध किया है कि जैसे आत्माधीन होने से आकांक्षा करना सरल है; वैसे ही परमानन्द भी आत्माधीन होने से उसे प्राप्त करना सरल है; अतः उसे प्राप्त करने का उपाय करो। तदुपरांत स्व-पर को जानकर, उसका भी व्यामोह नष्ट कर, निराकुल स्वभाव में मग्न रहने की प्रेरणा २३वें छंद द्वारा देते हुए २४वें छंद द्वारा मोक्ष-प्राप्ति के लिए एक निजात्मा में ही षट्कारक की व्यवस्था सिद्ध करते हुए पूर्ण स्वतंत्रता की उद्घोषणा कर, आत्मलीन रहने को प्रेरित करते हुए अन्तिम पच्चीसवें छंद द्वारा ग्रंथ के अध्ययनादि का फल मोक्ष-प्राप्ति बताते हुए ग्रंथ पूर्ण किया है।

इसप्रकार संक्षिप्त रुचि भव्यात्माओं के लिए आत्महितार्थ समझने-योग्य सभी विषयों का निरूपण इस ग्रंथ में अति सरल और सुबोध शैली द्वारा किया गया है।

- कल्पना जैन



टीका और टीकाकार परिचय

प्रस्तुत ग्रंथ के ऊपर दो संस्कृत टीकाएँ उपलब्ध हुई हैं — १. पदार्थ कथनात्मिका वृत्ति, २. चंद्रिका टीका।

प्रथम टीका में तो अपने नाम के अनुसार पदों का मात्र अर्थ ही स्पष्ट किया गया है। छंदों का अर्थ समझने के लिए यह टीका अत्यन्त उपयोगी है। इसमें कहीं-कहीं अति संक्षेप में भावार्थ या तात्पर्यार्थ भी दिया गया है। इस टीका के कर्ता का नाम अभी तक अनुपलब्ध ही है। इस टीका में २१ नं. पर एक छंद अधिक है जो दूसरी टीका में नहीं है। जिसका भाव यह है कि “जबतक तृष्णा विद्यमान है तबतक मुक्ति नहीं होती है; अतः निजात्मा में भी तीव्र तृष्णावान मत होओ।” — इस छंद के कारण ही प्रस्तुत टीका में यह ग्रंथ २६ श्लोक प्रमाण हो गया है।

चंद्रिका नामक दूसरी टीका में भट्ट अकलंकदेव के हार्द को संक्षेप में उद्घाटित करने का सफल प्रयास किया गया है। न्याय-दीपिका, अनगारधर्माभूत, गोम्मटसार जीवकाण्ड आदि ग्रंथों की हिंदी टीका करनेवाले वर्तमान युगीन विद्वान, ‘विद्यावारिधि’ उपाधि से विभूषित स्व. पं. खूबचन्दजी शास्त्री इस टीका के कर्ता हैं।

प्रसंगानुसार अन्य ग्रंथों के उद्धरण देकर मूल कथन को पुष्ट करते हुए टीका को समृद्ध करने का भी अल्पशः प्रयास दोनों ही टीकाओं में किया गया है।

प्रस्तुत ग्रंथ में इसी क्रम से दोनों टीकाओं को क्रमशः १ और २ नं. देकर लिया गया है। — कल्पना जैन



हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थ हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् — सूत्र-२

प्रमाण हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने में समर्थ है तथा वह ज्ञान ही है।

— परीक्षामुखसूत्र : आचार्य माणिक्यनंदी

अनुवादिका-सम्पादिका की ओर से

अध्यात्मरसिक सहधर्मी भाई 'देवेन्द्रकुमारजी बिजौलिया' ने इस ग्रंथ की मूल प्रति देते हुए इसका मात्र शब्दशः हिन्दी अनुवाद करने के लिए मुझे प्रेरित किया। रुचिकर विषय होने से मैंने भी उसे सहज स्वीकार कर लिया। परिणामस्वरूप मूल ग्रंथ का हिन्दी पद्यानुवाद, श्लोकार्थ, दोनों टीकाओं का शब्दशः हिन्दी अनुवाद, ग्रंथकार-ग्रंथ परिचय और टीका-टीकाकार परिचय आपके समक्ष है।

इन सबसे संयुक्त प्रस्तुत स्वरूप-संबोधन ग्रंथ से अनन्तधर्मात्मक आत्मा का स्वरूप समझकर, उसके पर्यायगत दुःखों को नष्ट करने का उपाय हृदयंगम कर हम सभी स्वभाव के समान पर्याय में भी अनन्त सुखमय दशा प्राप्त करें — इस मंगलमय भावना के साथ प्रस्तुत ग्रंथ आपके करकमलों में सविनय समर्पित है।

२५३० वाँ वीर निर्वाण दिवस

कल्पना जैन

२५ अक्टूबर, २००३

ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५ (राज.)



प्रस्तुत ग्रंथ की कीमत कम करने में प्राप्त सहयोग राशि

श्रीमान शांतिनाथ मल्लप्पा सोनाज, अकलूज	१०००.००
सौ. जानकीबाई दरबारीलाल जैन, सागर	५००.००
सौ. पुष्पा चक्रेशकुमार जैन, सागर	५००.००
सौ. प्रीति सुधीरकुमार जैन, सागर	५००.००
कुमारी पूजा नेमिनाथ चव्हाण, कणगळा	१००.००
कुमारी प्रिया नेमिनाथ चव्हाण, कणगळा	१००.००

कुल राशि : २७००.००

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठांक
प्रकाशकीय	
ग्रंथकार और ग्रंथ परिचय	
टीका और टीकाकार परिचय	
अनुवादिका-सम्पादिका की ओर से	
पद्य १. मंगलाचरण	२
" २. आत्मा का स्वरूप	८
" ३. कथंचित् चेतनाचेतनात्मक आत्मा	१४
" ४. ज्ञान से कथंचित् भिन्नाभिन्नात्मक आत्मा	१९
" ५. कथंचित् देहगत-सर्वगत आत्मा	२३
" ६. कथंचित् एकत्वानेकत्वात्मक आत्मा	२७
" ७. कथंचित् वक्तव्यावक्तव्यात्मक आत्मा	३०
" ८. कथंचित् मूर्तिका-मूर्तिकात्मक आत्मा	३५
" ९. कथंचित् कर्ता-भोक्तात्मक आत्मा	३९
" १०. मुक्ति के हेतु	४४
" ११. सम्यग्दर्शन का लक्षण	४७
" १२. सम्यग्ज्ञान का लक्षण	४८
" १३-१४. सम्यक्चारित्र्य का लक्षण	४९
" १५. मोक्ष के बहिरंग कारण	५८
" १६. प्रतिक्षण आत्म-भावना ही कर्तव्य	६०
" १७. कषायवान के आत्माराधना अशक्य	६३
" १८. आत्मभावना का उपाय	६६
" १९. आत्म-भावनोपाय का प्रकारान्तर	६९
" २०. उपेक्षा-मोक्षदायिका	७१
" २१. तृष्णा-मोक्षावरोधिका	७४
" २२. कांक्षा-मोक्षावरोधिका	७५
" २३. उपेक्षाभावना ही कर्तव्य	७९
" २४. शुद्धोपयोग प्राप्ति का क्रम	८३
" २५. अभिन्न षट्कारक से मोक्षप्राप्ति	८७
" २६. ग्रंथाध्ययन का फल	९०
❖ स्वरूप संबोधन पद्यों की वर्णानुक्रमणिका	९४
❖ संस्कृत पद्य	९५
❖ हिन्दी पद्य	९७

। श्रीगणेशाय नमः । श्रीगणेशाय नमः ।

॥ श्रीगणेशाय नमः । श्रीगणेशाय नमः ।

श्रीगणेशाय नमः । श्रीगणेशाय नमः ।



श्रीस्वयंशुद्धात्मने नमः । श्रीगणेशाय नमः ।

श्रीमद्भट्टकलंकदेव-प्रणीत

स्वरूप-सम्बोधन

श्लोकार्थ, पद्यानुवाद सहित दो संस्कृत टीकाओं का शब्दशः हिन्दी अनुवाद
प्रथमा टीका —

शुद्धचैतन्यपिंडाय, सिद्धाय सुखसम्पदे ।

विमलागमसाराय, नमोऽस्तु परमेष्ठिने ॥

श्रीमदकलंकदेव (नामा) समस्तदुर्नयैकान्तनिराकृत-
दुराग्रहः, समुत्पन्नपरमभेदविज्ञानप्रकाशिताशयोऽशेषभव्यजनानां
अनेकान्तरूपेण जीवपदार्थप्रतिपादनार्थं स्वरूपसम्बोधनग्रन्थ-
स्यादाविष्टदेवनमस्कारं मंगलार्थं कुर्वन्नाह —

हिन्दी अनुवादिका कृत मंगलाचरण —

अनन्त वैभवयुत आतम को, स्याद्वाद की शैली से ।

समझ सहज स्थिरता हेतु, 'स्वरूप सम्बोधन' कृति से ॥

पा सम्बोधन हो कृतार्थ, करती हूँ मैं हिन्दी अनुवाद ।

इस 'अंकलंक' कृति से मिटते, जग के सारे वाद-विवाद ॥

प्रथम टीका का अर्थ —

शुद्ध चैतन्य के पिण्ड, सुख-सम्पदामय, विमल/निर्मल आगम
के सारभूत सिद्धपरमेष्ठी को नमस्कार हो ।

समस्त दुर्नय/मिथ्यानय रूपी एकान्तों, दुराग्रहों का निराकरण
करनेवाले, प्रगट हुए परम भेद-विज्ञान रूपी प्रकाश से प्रकाशित चित्त

मुक्तामुक्तैकरूपो यः, कर्मभिः संविदादिना ।

अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्तिं नमामि तम् ॥१॥

यः कश्चित् परमपदार्थः कर्मभिः ज्ञानावरणादिकर्मभिः संविदादिना सम्यग्ज्ञानादिगुणैः मुक्तामुक्तैकरूपः त्यक्तात्यक्तैक-स्वभावः तं आत्मोत्थसुखस्वभावं अक्षयं अव्ययं ज्ञानमूर्तिं केवलज्ञानस्वरूपं परमात्मानं परमात्मपदार्थं नमामि नमस्करोमि । समस्त-रागादि-विभावरहित-केवलज्ञानादिगुणसमूह-सहित-परमात्मपदार्थ एव नमस्कारार्हः इति भावार्थः ॥१॥

वाले श्रीमद् अकलंकदेव समस्त भव्य जीवों को अनेकान्तरूप से (स्याद्वाद शैली द्वारा) जीव पदार्थ का प्रतिपादन करने के लिए 'स्वरूपसम्बोधन' ग्रन्थ के प्रारम्भ में इष्ट देवता को नमस्कार रूप मंगलाचरण करते हुए कहते हैं —

सर्व कर्म से मुक्त हुए पर, जो ज्ञानादि युक्त सदा ।

एक रूप अक्षय परमात्म, ज्ञानमूर्ति को नमन सदा ॥१॥

श्लोकार्थ : — जो कर्मों से मुक्त और ज्ञानादि से अमुक्त, एकरूप हैं; उन अक्षय ज्ञानमूर्ति परमात्मा को नमस्कार हो ।

टीकार्थ : — (यः) जो कोई परमपदार्थ (कर्मभिः) ज्ञाना-वरणादि कर्मों से तथा (संविदादिना) सम्यग्ज्ञानादि गुणों से (मुक्तामुक्तैकरूपः) (क्रमशः) त्यक्त और अत्यक्त एक स्वभाव वाला है; (तं) उस आत्मा से उत्पन्न सुख स्वभावमय (अक्षयं) अव्यय/अविनाशी (ज्ञानमूर्तिं) केवलज्ञानस्वरूप (परमात्मानं) परमात्म-पदार्थ को (नमामि) नमस्कार हो ।

समस्त रागादि विभावों से रहित, केवलज्ञानादि गुणों के समूह सहित परमात्म-पदार्थ ही नमस्कार करने-योग्य है — यह भावार्थ है ॥१॥

द्वितीया टीका — अहं ग्रन्थकर्ता भट्टकलंकदेवः इति शेषः, तं अक्षयं विद्यते नाभूत् न भविष्यति क्षयो विनाशो यस्य सः तम्, तथा ज्ञानमूर्तिं ज्ञानमेव मूर्तिराकृतिर्यस्य सः तम्, परमात्मानं परमश्चासौ आत्मा च परमात्मा तम्; अथवा परं उत्कृष्टं आत्मानं; परा-सर्वोत्कृष्टपदं प्राप्ता, मा केवलज्ञानादिरूपा अन्तरंगलक्ष्मीः तथा समवसरणादिभूतिरूपा बाह्या श्रीः यस्य स भवति परमा स चासौ आत्मा च तम् अर्हद्भट्टारकं सिद्धपरमेष्ठिनं वा; नमामि नमस्कुर्वे, आराध्यत्वेन साध्यत्वेन तस्य परमात्मनः तत्पुरस्तात्

द्वितीय टीका का अर्थ — 'मैं ग्रन्थकर्ता भट्ट अकलंकदेव'— यह शेष है अर्थात् यह श्लोक में नहीं है, अर्थ करते समय ऊपर से लगा लेना। (तं अक्षयं) जिसका न वर्तमान में क्षय/विनाश है, न पहले भूतकाल में क्षय हुआ है और न आगे क्षय होगा, वह अक्षय है, उसे (इसप्रकार बहुब्रीहि समास द्वारा विश्लेषण कर द्वितीया तत्पुरुष समास किया); तथा (ज्ञानमूर्ति) ज्ञान ही है मूर्ति/आकृति/स्वरूप जिसका वह ज्ञानमूर्ति है, उसे (पूर्ववत् बहुब्रीहि और तत्पुरुष समास किया है); (परमात्मानं) परम और वह आत्मा परमात्मा उसे; अथवा पर/उत्कृष्ट आत्मा को; 'परा'-सर्वोत्कृष्ट पद को प्राप्त, 'मा'-केवलज्ञानादिरूप अंतरंग लक्ष्मी और समवसरण आदि विभूतिरूप बाह्य लक्ष्मी जिसके है वह परमा और आत्मा अर्थात् अर्हन्त भट्टारक (भगवान) या सिद्ध परमेष्ठी को (यहाँ 'परमात्मा' शब्द का तीन प्रकार से सन्धि विच्छेद कर, कर्मधारय समास पूर्वक द्वितीया तत्पुरुष समास से विश्लेषण किया गया है); (नमामि) नमस्कार करता हूँ। आराध्य होने से, साध्य होने से उन परमात्मा के आगे मैं अन्तरात्मा स्वयं

अहमन्तरात्मा आत्मानं नीचैः करोमि। निश्चयव्यवहाररूपेण वा तत्पदाभिलाषित्वात् प्रणमनपरो भवामीत्यर्थः।

तं कं? इति पूर्वार्धेन उत्तरयति — यः कर्मभिः संविदादिना मुक्तामुक्तैकरूपः मुक्तश्चामुक्तश्च मुक्तामुक्तौ, एकमखण्डरूपं यस्य सः एकरूपः मुक्तामुक्तौ च एकरूपश्च अथवा मुक्तामुक्त-योरेकरूपः यथाक्रमालंकारयुक्त्या कर्मभिर्मुक्तः मोहक्षयात् संसरणमुक्तः, घातिक्षयादष्टादशदोषमुक्तः सर्वकर्मक्षयाच्छरीर-मुक्तश्च भवति; क्लेशकर्मविपाकाशयानां कर्मजन्यत्वात्

को नम्रीभूत करता हूँ/झुकाता हूँ। निश्चय या व्यवहार रूप से उस पद का अभिलाषी होने के कारण प्रणमनपर/नमस्कार करने में तत्पर हूँ — यह अर्थ है।

उन्हें, किन्हें नमस्कार करते हो? (इस प्रश्न का श्लोक के) पूर्वार्ध द्वारा उत्तर देते हैं — (यः कर्मभिः संविदादिना मुक्तामुक्तैकरूपः) मुक्त और अमुक्त-मुक्तामुक्त, एक/अखण्ड रूप है जिसका वह एकरूप, मुक्तामुक्त और एकरूप अथवा मुक्त और अमुक्त में एकरूप (यहाँ क्रमशः द्वन्द्व, बहुब्रीहि, द्वन्द्व और सप्तमी तत्पुरुष समास द्वारा विश्लेषण किया है); यथाक्रम अलंकार की युक्ति से (इस श्लोक में यथाक्रम अलंकार का प्रयोग होने से) क्लेश, कर्म, विपाकाशयों के (आकुलता और रागादिभावों के) कर्मजन्यता या अनात्मधर्मता होने के कारण जो कर्मों से मुक्त हैं, मोह का क्षय हो जाने से (बारहवें गुणस्थानवर्ती क्षीणमोहीजीव) संसरण से मुक्त हैं, घातिकर्मों का क्षय हो जाने से (तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानवर्ती अरहन्त भगवान) अठारह दोषों से मुक्त हैं; सभी कर्मों का क्षय हो जाने से (सिद्ध भगवान) शरीर से भी मुक्त हैं।

अनात्मधर्मत्वाद् वा । संविदादिना — संविद् ज्ञानं आदिर्यस्य सम्यक्त्ववीर्यादेः तेन अमुक्तः, विधिप्रतिषेधात्मकत्वाद् वस्तु-वृत्तेः । एवं सन्नपि एकरूपः अथवा एकरूप इति विशेषण-स्यार्थः एवं विधेयः — कर्मभिः मुक्तामुक्तरूपः संसारिणोमुक्ता-श्चेति भेदविधानात् । संविदादिना स्वलक्षणेन एकरूपः तस्य सदाप्यपरित्यागात् । यद्वा कथंचित् उभयात्मकः, कथंचित् अनु-भयात्मकः इत्यर्थः । क्रमेण वक्तुं शक्यत्वादुभयात्मकः, मुक्ता-मुक्तरूपः युगपत् उभयधर्मयोः वक्तुमशक्यत्वादनुभयात्मकः अवक्तव्यः इत्यर्थः । एवं चात्मा सप्तभंगात्मक इत्युक्तं भवति । ईश्वरो नानादिमुक्तः मुक्तत्वादन्यमुक्तवत् इत्युक्तत्वात्, अत्र

वस्तु का स्वरूप विधि-प्रतिषेधात्मक होने से (संविदादिना) संविद-ज्ञान आदि है जिसके ऐसे सम्यक्त्व, वीर्य आदि से अमुक्त हैं, सहित हैं, सम्पन्न हैं । ऐसा होने पर भी वह एकरूप है, अथवा 'एकरूप' इस विशेषण का अर्थ इसप्रकार करना चाहिए — संसारी और मुक्त जीव के भेद होने से, कर्मों से अमुक्त/संयुक्त संसार दशा में तथा कर्मों से मुक्त सिद्ध दशा में जीव एकरूप ही है । ज्ञान आदि अपने लक्षण का सदा ही परित्याग करना अशक्य होने से वह आत्मा अपने ज्ञानादि लक्षण से सदैव एकरूप है । अथवा वह कथंचित् उभयात्मक है, कथंचित् अनुभयात्मक है — ऐसा अर्थ है । मुक्त और अमुक्तरूप धर्मों को क्रम से कहना शक्य होने के कारण उभयात्मक है तथा इन दोनों धर्मों को एक साथ कहना अशक्य होने से अनुभयात्मक है, अवक्तव्य है — ऐसा अर्थ है । इसप्रकार आत्मा सप्तभंगात्मक है — ऐसा कहा गया है । 'अन्य मुक्तात्माओं के समान, मुक्त होने के कारण ईश्वर भी

कर्मभिर्मुक्तत्वकथनेन ईश्वरस्यानादिमुक्तत्वमान्यता निरस्ता, सदा कर्मसहित एवात्मा तिष्ठति न कदाचिदपि ततो मुच्यते इत्येकांतश्च वारितः, संसारमोक्षव्यवस्थान्यथानुपपत्तेः।

संविदादिना अमुक्तत्वकथनेन बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदः पुरुषस्य इति आत्मा ज्ञानाद् भिन्न एवेति च पक्षःक्षतो भवति। अक्षयविशेषणेन शून्यवादिता, नैरात्म्यवादिता, क्षणक्षयिवादिता च खण्डिता। ज्ञानमूर्तिं विशेषणेन ज्ञानादात्मनः न्यूनाधिक-प्रमाणत्वं परास्तम्। आत्मनः परमविशेषणेन बहिरन्तःपरमेति

अनादि से मुक्त नहीं है' — ऐसा कथन होने से, यहाँ कर्मों से मुक्तता रूप कथन द्वारा ईश्वर की अनादिमुक्तता रूप मान्यता खंडित हुई; तथा आत्मा सदा कर्म सहित ही रहता है, कभी भी उससे मुक्त नहीं होता है — इस एकान्त (मान्यता) का भी निराकरण हुआ; क्योंकि कर्मों का अनादिबन्धन तथा बाद में उनसे मुक्ति स्वीकार न करने पर संसार और मोक्ष की व्यवस्था ही सिद्ध नहीं होती है।

'ज्ञानादि से अमुक्तता है' — इस कथन द्वारा 'बुद्धि आदि विशेषगुणों का अभाव हो जाना पुरुष का मोक्ष है' (नैयायिक, वैशेषिक आदि की मान्यता) तथा आत्मा ज्ञान से भिन्न ही है (वैशेषिक मान्यता) — इन मान्यताओं का निराकरण हो जाता है।

'अक्षय' विशेषण से शून्यवादिता, नैरात्म्यवादिता और क्षणक्षयिवादिता रूप मान्यतायें खंडित हुईं।

'ज्ञानमूर्ति' विशेषण द्वारा ज्ञान से आत्मा का हीनाधिक प्रमाणपना निराकृत हुआ।

'परम' विशेषण द्वारा आत्मा की बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा

दशात्रयसूचनपूर्वकं बहिरात्मनामन्तरात्मदशावत् अन्तरात्मनां
परमात्मदशाया आराध्यत्वं प्रतिपादितम् । विरोधाभासा-
लंकारः ॥१॥

— इन तीनों दशाओं की सूचना पूर्वक; जिसप्रकार बहिरात्माओं को अन्तरात्मदशा आराध्य है, उसीप्रकार अन्तरात्माओं को परमात्म-दशा की आराध्यता का प्रतिपादन किया है।

इस श्लोक में विरोधाभास अलंकार का प्रयोग किया गया है ॥१॥

बंध-मोक्ष का यथार्थ कारण

अज्ञानाच्चेद्धुवो बंधो, ज्ञेयाऽनन्त्यान्न केवली ।

ज्ञानस्तोकाद्धिमोक्षश्चेदज्ञानाद्बहुतोऽन्यथा ॥९६॥

अज्ञानान्मोहिनो बंधो, नाज्ञानाद्धीतमोहतः ।

ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा ॥९८॥

यदि अज्ञान से बंध होना सुनिश्चित हो तो ज्ञेयों की अनंतता के कारण कोई भी केवली नहीं हो सकेगा; इसीप्रकार यदि अल्पज्ञान से मोक्ष होना माना जाए तो अज्ञान की बहुलता के कारण बंध का प्रसंग सदा बना रहने के कारण, उसका निरोध नहीं हो पाने से मोक्ष होना कभी सम्भव ही नहीं हो सकेगा।

मोहसहित अज्ञान से बंध होता है, मोहरहित अज्ञान से बंध नहीं होता है; इसीप्रकार मोहरहित अल्पज्ञान से भी मोक्ष होता है, परन्तु मोहसहित के तो सदा बंध ही होता है।

- आप्त-मीमांसा : आचार्य समंतभद्र

१. परमात्मस्वरूपसंसिद्धिमभिलषन् ग्रन्थकारः सहजसुख-समुद्रं परमात्मानं प्रणिपत्य पुनः परमतत्त्वं निरूपयति —

सोऽस्त्यात्मा सोपयोगोऽयं, क्रमाद्धेतुफलावहः।

यो ग्राह्यग्राह्यनाद्यन्तः, स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः ॥२॥

यो यः कश्चित् सोपयोगः ज्ञानदर्शनोपयोगयुक्तः क्रमात् क्रमेण हेतुफलावहः कारणकार्यस्वरूपावहः ग्राह्यग्राही ग्राही स्वपरवस्तुस्वरूपं गृह्णाति जानातीति ग्राही। यद्वा अग्राह्यग्राह्य पाठे च अग्राह्यग्राहकरूपः इति। अथवा ग्राह्योऽग्राह्य इति पाठोऽपि, सहजज्ञानपरिच्छेद्यो ग्राह्यः क्षयोपशमज्ञानेन अवेद्यत्वाद्

१. परमात्मस्वरूप की सम्यक् सिद्धि की अभिलाषा करते हुए ग्रन्थकार सहज सुख समुद्र परमात्मा को नमस्कार कर, अब परमतत्त्व का निरूपण करते हैं —

वह यह उपयोगात्मक आत्मा, क्रम से कारण कार्यमयी।

ग्राह्यग्राही अनाद्यन्त है, व्यय उत्पत्ति ध्रौव्यमयी ॥२॥

श्लोकार्थः — वह यह उपयोग स्वरूपी आत्मा, क्रम से हेतु और उसके फल रूप अर्थात् कारण-कार्य रूप है; तथा जो ग्राही-अग्राही, अनादि-अनन्त और स्थिति/ध्रौव्य-उत्पत्ति/उत्पाद-व्यय स्वरूपी है।

टीकार्थः — (यो) जो कोई (सोपयोगः) ज्ञान-दर्शन उपयोग युक्त (क्रमात्) क्रम से (हेतुफलावहः) कारण-कार्य स्वरूप सम्पन्न (ग्राह्यग्राही) ग्रहण करने-योग्य/जानने-योग्य स्व-पर वस्तु के स्वरूप को ग्रहण करता है/ जानता है; अथवा 'अग्राह्यग्राह्य' — ऐसा पाठ होने पर इसका अर्थ है अग्राह्यग्राहक रूप है, अथवा 'ग्राह्योऽग्राह्य' ऐसा भी पाठ है, उसका अर्थ है सहज ज्ञान द्वारा

अग्राह्यः इत्यर्थः। अनाद्यन्तः अनादिनिधनः स्थित्युत्पत्ति-
व्यात्मकः ध्रौव्योत्पत्तिविनाशरूपः अयं एष सुखनिधिः स्वरूप-
योगादिधर्मधनः आत्मा निर्विकारचैतन्यस्वभावः अस्ति विद्यते
उपयोगादिलक्षणलक्षितात्मास्ति। तेन परवादिपरिकल्पितात्म-
स्वरूपं न भवतीति तात्पर्यम् ॥२॥

२. मुक्तामुक्तैकरूपत्वेनोक्तस्यात्मनोऽस्तित्वमनुमापयन्
तल्लक्षण-स्वरूपभेदान् आख्याति —

स अयं सोपयोगः आत्मा अस्ति, कथंभूतः? हेतुफलावहः
हेतुश्च फलं च हेतुफले, ते आवहति, आसमंतात् वहति प्राप्नोति
धारयति इति हेतुफलावहः। कथं? क्रमात् क्रमेण अयौगपद्येन।

जानने-योग्य होने से ग्राह्य है तथा क्षयोपशम ज्ञान द्वारा अवेद्य/
जानने-योग्य न होने से अग्राह्य है; (अनाद्यन्तः) अनादि अनन्त,
(स्थित्युत्पत्तिव्यात्मकः) ध्रौव्य, उत्पाद, विनाशरूप है; (अयं)
यह सुखनिधि स्वरूपयोगादि धर्मधन से सम्पन्न (आत्मा) निर्विकार
चैतन्यस्वभावी आत्मा (अस्ति) उपयोग आदि लक्षण से लक्षित है।

इन विशेषणों से अन्यवादियों द्वारा परिकल्पित आत्मा का
स्वरूप वास्तविक स्वरूप नहीं है — यह बताया गया है; ऐसा
तात्पर्य है ॥२॥

२. मुक्तामुक्त एकरूपता से कहे गए आत्मा के अस्तित्व का
विशेष ज्ञान कराते हुए, उसके लक्षण-स्वरूप-भेदों का विशेष
कथन करते हैं —

टीकार्थः — (सोऽयं सोपयोगः आत्मा अस्ति) वह यह
उपयोगात्मक आत्मा है। वह कैसा है? (हेतुफलावहः) हेतु और
फल-हेतुफल, उन दोनों को जो सब ओर से प्राप्त करता है, धारण
करता है-वह हेतुफलावह है। उन दोनों को कैसे धारण करता है?

अयं कः? इत्युत्तरयति यः ग्राह्यः ग्रहीतुं योग्यस्वानुभवप्रत्यक्षेण वेद्यः स्वयं उपयोगरूपलक्षणजन्य व्याहारादिहेतुना परत्रानुमेयश्च निश्चयनयेन शुद्धोपयोगरूपनिर्विकल्पसमाधिना ग्राह्यः साध्यः इति वा। पुनः कथंभूतः? अग्राही आत्मेतरद्रव्यगुणपर्यायान् न गृह्णाति कदाचिदपि आत्मसात् न करोतीत्यग्राही। यद्वा प्रागभावरूपानुत्तरपर्यायान् ग्रहीतुं योग्य इति ग्राह्यः प्रध्वंसाभावरूपान् पूर्वपर्यायान् न कदाचिदपि गृह्णातीति अग्राही। पुनः कथंभूतः? अनाद्यन्तः आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ न आद्यन्तौ यस्य सः अनाद्यन्तः, आत्मनः सल्लक्षणद्रव्यत्वात् असतः सर्वथा उत्पादाभावात्, सतो निरन्वयविनाशाभावात् अभावस्य

(क्रमात्) क्रम से धारण करता है, एक साथ नहीं। उन्हें धारण करनेवाला यह कौन है? इसका उत्तर देते हैं (यः ग्राह्यः) स्वानुभव प्रत्यक्ष द्वारा जो स्वयं ग्रहण करने-योग्य/जानने-योग्य है तथा उपयोगरूप लक्षण से उत्पन्न होने-योग्य व्याहारादि (श्वासोच्छ्वास, हलन-चलन आदि) हेतु से दूसरों द्वारा अनुमान से जानने-योग्य है अथवा निश्चयनय से शुद्धोपयोगरूप निर्विकल्पसमाधि द्वारा ग्रहण करने-योग्य/साधने-योग्य है। और वह कैसा है? (अग्राही) आत्मा से भिन्न अन्य के द्रव्य-गुण-पर्यायों को ग्रहण नहीं करता है, (उन्हें) कभी भी आत्मसात् नहीं करता है; अतः अग्राही है। अथवा प्रागभावरूप आगामी पर्यायों को ग्रहण करने-योग्य है, अतः ग्राह्य है; तथा प्रध्वंसाभावरूप पूर्वपर्यायों को कभी भी ग्रहण नहीं करता है, अतः अग्राही है।

वह आत्मा और कैसा है? (अनाद्यन्तः) आदि और अन्त-आद्यन्त, आदि और अन्त जिसका नहीं है, वह अनाद्यन्त है; द्रव्य का सत् लक्षण होने से, सर्वथा असत् के उत्पाद का अभाव होने से, सत् के निरन्वय/पूर्णतया विनाश का अभाव होने से,

भावात्मकत्वप्रतिपादनेन तुच्छाभावतत्त्वस्य सर्वथाप्यमान्यत्वात्।
च पुनः कथंभूतः? स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः स्थितिध्रौव्यं, उत्पत्ति-
र्जन्यत्वं, व्ययो विनाशः इति स्थित्युत्पत्तिव्यया एव आत्मा
स्वरूपं यस्य सः।

अत्र आत्मद्रव्यस्य सिद्धौ लक्षणत्रयं प्रतिपादितम्।
'सोपयोगः' इति हेत्वर्थगर्भितविशेषणेन सल्लक्षणमसाधारण-
द्रव्यत्वं च साधितम्। 'यः सोपयोगः स आत्मा' इति सोपयोग-
पदेन गुणवत्त्वं, 'क्रमाद्धेतुफलावहः' इति पदेन पर्यायवत्त्वं
च निर्दिश्य 'गुणपर्यायवल्लक्षणं' सूचितम्। स्थित्युत्पत्तिव्य-
यात्मकत्वकथनेन 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इति च लक्षणं
निरूपितम्।

अभाव के भावात्मकपने का प्रतिपादन होने के कारण, तत्त्व का
तुच्छाभाव (पूर्णतया अभाव) सर्वथा ही अमान्य होने से आत्मा
की अनाद्यन्तता स्वतःसिद्ध है।

वह आत्मा और कैसा है? (स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः) स्थिति
ध्रौव्य, उत्पत्ति/जन्यत्व/उत्पन्न होने-योग्य/उत्पाद, व्यय/विनाश —
इसप्रकार ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय ही जिसका स्वरूप है — वह
आत्मा है।

यहाँ आत्मद्रव्य की सिद्धि के लिए तीन लक्षण प्रतिपादित किए
गए हैं। 'सोपयोग' इस हेतु अर्थ गर्भित/हेतुपरक विशेषण द्वारा सत्-
लक्षण और असाधारण/विशेष द्रव्यपना सिद्ध किया है। जो सोपयोग
है वह आत्मा-इसप्रकार 'सोपयोग' पद द्वारा 'गुणवान' पने का और
'क्रमाद्धेतुफलावहः' इस पद द्वारा 'पर्यायवान' पने का निर्देशकर 'गु-
णपर्यायवद् द्रव्यं' (आत्मद्रव्य का) गुण-पर्यायवान लक्षण सूचित किया
है। 'स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकत्व' कथन द्वारा 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'
- सत्/द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है — यह लक्षण बताया गया है।

हेतुशब्देन कारणसमयसारता, फलशब्देन कार्यसमयसारता इत्युपयोगस्य क्रमभाव्यवस्थाद्वयं अथवा द्रव्यस्य गुणपर्यायात्मकत्वात् कार्यकारणात्मकता च सूच्यते।

यद्वा हेतुशब्देन आस्रवसंवरनिर्जरातत्त्वरूपता फलशब्देन बन्धमोक्षरूपता चाभिव्यज्यते, उपरि मंगलपद्ये कर्मभिर्मुक्तत्वकथनेन बन्धमोक्षव्यवस्थायाः स्वयमूह्यत्वात्। इत्यात्मनः कथंचित् सप्ततत्त्वात्मकत्वं प्रतिपादितं भवति।

“यः अग्राह्य.....” इति वा विश्लिष्य अग्राह्यः ग्राही इति विशेषणद्वयेन —

“अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।

जाण अलिंगगहणं, जीवमणिद्धिद्वुसंठाणं ॥”

हेतु शब्द द्वारा कारणसमयसारता, फलशब्द द्वारा कार्यसमयसारता — इसप्रकार क्रम से होनेवाली उपयोग की दो अवस्थाओं को अथवा द्रव्य के गुणपर्यायात्मकता होने से कार्य-कारण स्वरूपता को सूचित किया है।

अथवा पहले मंगलाचरण के पद्य में कर्मों से मुक्तता का कथन होने से बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था स्वयं विचारणीय हो जाने के कारण, हेतु शब्द द्वारा आस्रव-संवर-निर्जरा तत्त्वरूपता और फलशब्द द्वारा बन्ध-मोक्षरूपता अभिव्यक्त होती है। इससे आत्मा के कथंचित् सात तत्त्वात्मकता प्रतिपादित हुई।

‘यः अग्राह्य’-इसप्रकार संधि विच्छेद करके अग्राह्य, ग्राही — इन दो विशेषणों द्वारा —

“जो रस रहित, रूप रहित, गंध रहित, अव्यक्त, चेतनागुणयुक्त, शब्द रहित, अलिंगग्रहण, अनिर्दिष्टसंस्थान है; उसे जीव जानो।”

इति गाथार्थः प्रतिपादितो भवति। तत्र 'अग्राह्य' इति विशेषणेन इन्द्रियलिङ्गादिभिर्ग्रहणयोग्यो न भवतीत्यर्थं कृत्वा अलिङ्गग्रहणपदोक्तविंशत्यर्थाः समुच्चेयाः 'ग्राही' विशेषणेन तु शेषपदानामर्थः संबोध्यः। 'सोपयोग' विशेषणेन चेतनागुण इति प्रतिपादितः। अत्रानुमानालंकारो जातिरलंकारो विरोधाभासश्च घटनीयः। आत्मा सोपयोगः इह उक्तः। उपयोगेन सहितः सोपयोगः [उपयोगस्तु उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणामः] ॥२॥

इस गाथार्थ का प्रतिपादन किया गया है। वहाँ 'अग्राह्य' — इस विशेषण द्वारा आत्मा इन्द्रिय-लिङ्ग आदि से ग्रहण-योग्य नहीं है — ऐसा अर्थ करके (प्रवचनसार की १७२ वीं गाथा की तत्त्वप्रदीपिका टीका में) अलिङ्गग्रहण पद द्वारा वर्णित बीस अर्थ का समुच्चय करना चाहिए। 'ग्राही' विशेषण द्वारा शेष पदों का अर्थ समझ लेना चाहिए। 'सोपयोग' विशेषण द्वारा चेतना गुण का प्रतिपादन किया गया है।

इस पद्य में अनुमान अलंकार, जाति अलंकार और विरोधाभास घटित करना चाहिए।

यहाँ आत्मा सोपयोग है — ऐसा कहा है। उपयोग से सहित सोपयोग है [अंतरंग-बहिरंग दोनों कारणों की उपस्थिति में उत्पन्न चैतन्य का अनुसरण करनेवाला परिणाम उपयोग है]। सर्वार्थसिद्धि टीका] ॥२॥

सव्वण्डुणाणदिट्ठो, जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं ॥२४॥ पूर्वार्ध
सर्वज्ञ के ज्ञान द्वारा जीव सदा उपयोग लक्षणवाला ही देखा
गया है।
- समयसार, आचार्य कुन्दकुन्ददेव

१. पुनरप्यात्मद्रव्यस्य नयविवक्षाभेदेन चेतनत्वमावेदयति —

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः ।

ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चोतनाचेतनात्मकः ॥३॥

प्रमेयत्वादिभिः प्रमेयत्वं सम्बोधकत्वं द्रव्यत्वं प्रदेशवत्त्वादिकैः धर्मैः वस्तुस्वभावैः अचिदात्मा अचेतनस्वभावः, ज्ञानदर्शनतः ज्ञानदर्शनाभ्यां चिदात्मकः चैतन्यस्वरूपः तस्मात् तेन कारणेन चेतनाचेतनात्मकः चेतनाचेतनस्वभावः । साधारणधर्मो अचेतनत्वं, असाधारणधर्मश्चेतनत्वं भवतीति भावार्थः ॥३॥

२. एवं चायमात्मा केवलचैतन्यगुणात्मक एव, अन्यगुणा-

१. आत्मद्रव्य के चेतनत्व का और भी नय विवक्षा से आवेदन करते हैं (मर्यादा पूर्वक ज्ञान कराते हैं) —

प्रमेयत्व आदि धर्मों से अचित् ज्ञान-दृग से चेतन ।

अतः आत्मा युगपत् ही है, अचेतनात्मक व चेतन ॥३॥

श्लोकार्थः : — वह आत्मा प्रमेयत्व आदि धर्मों के कारण अचित् स्वरूप है तथा ज्ञान-दर्शन के कारण चित्स्वरूप है; इसलिए आत्मा युगपत् चेतनाचेतनात्मक है ।

टीकार्थः : — (प्रमेयत्वादिभिः) प्रमेयत्व, सम्बोधकत्व, द्रव्यत्व, प्रदेशवत्त्व आदि धर्मों, वस्तु स्वभावों द्वारा (आत्मा) (अचिदात्मा) अचेतनस्वभावी है । (ज्ञानदर्शनतः) ज्ञान-दर्शन के कारण (चिदात्मकः) चैतन्यस्वरूपी है । (तस्मात्) उसकारण (चेतनाचेतनात्मकः) चेतन-अचेतन स्वभावी है ।

आत्मा का साधारण धर्म अचेतनत्व है तथा असाधारण धर्म चेतनत्व है — यह भावार्थ है ॥३॥

२. इसप्रकार यह आत्मा मात्र चैतन्यगुणात्मक ही है, या अन्य

त्मकोऽपि वा? इति प्रश्ने चेतनात्मकत्वेऽप्यात्मनः कथंचिदचिद-
धर्मात्मकत्वमनन्तधर्मात्मकत्वं सप्तभंग्यात्मकत्वं चास्तीति
व्यक्तीकरोति —

यत्तदो नित्यसम्बन्धात् यत् इति योज्यम्। यस्मात् कारणात्
स पूर्वोक्त आत्मा परमात्मा वा इति शेषः। कथंभूतः? अचिदात्मा
चित् चैतन्यं न चित् अचित् आत्मा स्वरूपो यस्य सः, चैतन्य-
स्वरूपो न भवतीत्यर्थः। कैः? धर्मैः स्वभावैः। किं नामकैः?
प्रमेयत्वादिभिः प्रमातुं योग्यं प्रमेयं प्रमाणरूपेण सम्यग्ज्ञानेन
परिच्छेत्तुं योग्यं परिच्छेद्य वस्तु, तस्य भावः प्रमेयत्वं, तत्
आदिर्येषां तैः प्रमेयत्वादिभिः। आदि शब्देन अस्तित्ववस्तुत्वा-

गुणात्मक भी? ऐसा प्रश्न होने पर, चेतनात्मकपना होने पर भी
आत्मा के कथंचित् अचेतनधर्मात्मकपना, अनन्तधर्मात्मकपना और
सप्तभंग्यात्मकपना है; ऐसा व्यक्त करते हैं —

टीकार्थ : — 'यत्' और 'तत्' का नित्य सम्बन्ध होने से
यहाँ 'यत्' शब्द लगा लेना चाहिए। 'जिसकारण वह पूर्वोक्त आत्मा
या परमात्मा' — यह शेष है (पद्य में इतना वाक्य न होने पर भी
पूर्व प्रकरण से इसे ले लेना)। वह आत्मा कैसा है? (अचिदात्मा)
चित्/चैतन्य, चित् नहीं अर्थात् अचित् आत्मा/ स्वरूप है जिसका
वह अचिदात्मा; चैतन्य स्वरूप नहीं है — ऐसा अर्थ है। आत्मा
किसकारण चैतन्य स्वरूप नहीं है/अचिदात्मा है? (धर्मैः) धर्मों/
स्वभावों के कारण अचिदात्मा है। किन नाम वाले धर्मों के कारण
अचिदात्मा है? (प्रमेयत्वादिभिः) प्रमेयत्व आदि धर्मों के कारण
वह अचिदात्मा है, प्रकृष्टरूप से जानने-योग्य प्रमेय है अर्थात् प्रमाण-
रूप सम्यग्ज्ञान द्वारा जानने-योग्य ज्ञेय वस्तु; उसका भाव प्रमेयत्व है;
वह है आदि में जिनके, उन प्रमेयत्व आदि धर्मों के कारण आत्मा

गुरुलघुत्वप्रदेशवत्त्वादयः चैतन्यगुणभिन्नाः सर्वेऽपि सामान्य-
विशेषात्मका गुणाः स्वभावा वा संग्रहाः।

एवं सन्नपि स आत्मा न सर्वथा अचिदेवेति स्पष्टीकर्तुं
पुनराह — **चिदात्मकः** चित् चैतन्यं आत्मा स्वरूपं यस्य सः,
चिदात्मा एव चिदात्मकः, स्वार्थे 'क' प्रत्ययविधानात्। कथं?
ज्ञानदर्शनतः ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शने। हेतौ पंचम्यर्थे तस्,
ज्ञानदर्शनरूपोपयोगपरिणामचैतन्यात्मकत्वाद्धेतोः, यतः एवं
तस्मात् हेतोः स आत्मा परमात्मा वा **चेतनाचेतनात्मकः** चेतनश्च

अचिदात्मा है। आदि शब्द से अस्तित्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व,
प्रदेशवत्त्व आदि चैतन्य गुण से भिन्न सभी सामान्य-विशेषात्मक
गुण या स्वभाव संग्रहित कर लेना चाहिए।

ऐसा होने पर भी वह आत्मा सर्वथा अचिद् ही नहीं है, इसे
स्पष्ट करने के लिए पुनः कहते हैं — और वह आत्मा कैसा है?
(**चिदात्मकः**) चिदात्मक है, चित्/चैतन्य, आत्मा/स्वरूप है
जिसका वह चिदात्मा; (व्याकरण में स्वार्थिक प्रत्यय प्रकरण के
अंतर्गत) स्वार्थ में 'क' प्रत्यय का विधान होने से चिदात्मा ही
चिदात्मक है। वह आत्मा चिदात्मक कैसे है? (**ज्ञानदर्शनतः**)
ज्ञान-दर्शन के कारण वह आत्मा चिदात्मक है। ज्ञान और दर्शन
ज्ञान-दर्शन, उनसे; हेतु रूप पंचमी (विभक्ति) के अर्थ में 'तस्'
का प्रयोग होने से, ज्ञान-दर्शन रूप उपयोग परिणाम के चैतन्यात्मकता
होने से वह आत्मा चिदात्मक है; क्योंकि वह आत्मा या परमात्मा
ऐसा (उपर्युक्त स्वरूप सम्पन्न) है, (**तस्मात्**) उसकारण वह
आत्मा या परमात्मा (**चेतनाचेतनात्मकः**) चेतनाचेतनात्मक है,
चेतन और अचेतन है आत्मा/स्वभाव जिसका वह चेतनाचेतनात्मक

अचेतनश्च आत्मा स्वभावो यस्य सः। न सर्वथा चेतन एव,
नापि सर्वथा अचेतन एव, किन्तूभयात्मकः।

वस्तुत्वेनात्मनोऽप्यनन्तगुणधर्मात्मकत्वात् चिदचिदात्म-
कानन्तगुणधर्मात्मकत्वमिह प्रतिपादितम्। तत्र चैतन्यगुणापेक्षया
ज्ञानदर्शनरूपः तत्परिणामोपयोगापेक्षया वा चिदात्मकत्वमात्मनः;
तदितरगुणधर्मापेक्षया तु अचिदात्मकत्वं तस्येत्यर्थः। एतेना-
चिदात्मकत्वमेवेति, चेतनात्मकत्वमेवेति चैकान्तपक्षद्वयं निरस्तम्।

कथं परस्परविरुद्धयोर्धर्मयोरेकत्र संभव इति चेन्न अनन्त-
गुणात्मके आत्मनि सदपेक्षया सर्वेषां गुणानां परस्परमभेदेऽपि
संज्ञासंख्यालक्षणप्रयोजनाद्यपेक्षया परस्परं भेदस्याप्यभ्युपगमात्

है। न सर्वथा चेतन ही है, और न ही सर्वथा अचेतन ही है,
अपितु उभयात्मक है।

वस्तुस्वरूप से आत्मा के भी अनन्तगुणधर्मात्मकता होने से
उसकी चिदाचिदात्मक अनन्तगुणधर्मात्मकता का यहाँ प्रतिपादन
किया गया है। वहाँ चैतन्यगुण की अपेक्षा से ज्ञान-दर्शन रूप
अथवा उपयोग की अपेक्षा से उसके परिणामस्वरूप आत्मा के
चिदात्मकता है; तथा उसी आत्मा के उनसे भिन्न गुण-धर्मों की
अपेक्षा अचिदात्मकता है — ऐसा अर्थ है। इससे (आत्मा के)
मात्र अचिदात्मकता ही है या चेतनात्मकता ही है — ये दोनों
एकान्तपक्ष निरस्त हुए।

परस्पर विरुद्धधर्मों का एक साथ रहना कैसे सम्भव है? यदि
ऐसा प्रश्न हो तो उत्तर देते हैं कि उनके एक साथ रहने में विरोध
नहीं है। अनन्तगुणात्मक आत्मा में सत् की अपेक्षा सभी गुणों के
परस्पर अभेद होने पर भी संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि की

न तत्र विरोधः, वध्यघातकसहानवस्थानप्रतिबन्ध्यप्रतिबंधक इति त्रिविधस्यापि विरोधस्यात्राघटनात्। एतेन एवं च छलमात्रत्वं संशयहेतुत्वं वानेकांतस्य परिहृतं बोद्धव्यम्॥३॥

अपेक्षा परस्पर भेद को भी स्वीकार किया होने से; तथा वध्यघातक, सहानवस्थान और प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धक — ये तीनों प्रकार के विरोध भी यहाँ घटित न होने से उनमें विरोध नहीं है।

इसप्रकार इसके द्वारा अनेकान्त की छलमात्रता या संशय हेतुता का निराकरण जानना चाहिए अर्थात् अनेकान्त छलरूप है या संशय उत्पन्न करता है — ऐसा मानना उचित नहीं है॥३॥

— आत्मा और ज्ञान की समप्रमाणता —

पाणप्पमाणमादा, ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।
 हीणो वा अहिओ वा, णाणादो हवदि धुवमेव॥२४॥
 हीणो जदि सो आदा, तण्णाणमचेदणं ण जाणादि।
 अहिओ वा णाणादो, णाणेण विणा कहां णादि॥२५॥
 णाणं अप्प त्ति मदं, वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
 तम्हा णाणं अप्पा, अप्पा णाणं व अण्णं वा॥२७॥

यहाँ जिसके मत में आत्मा ज्ञान-प्रमाण नहीं है, उसके मत में वह आत्मा या तो ज्ञान से हीन होगा या अधिक होगा।

यदि वह आत्मा ज्ञान से हीन/कम माना जाता है तो वह ज्ञान अचेतन होने से जान नहीं सकेगा और यदि वह आत्मा ज्ञान से अधिक है तो वह ज्ञान के बिना कैसे जान सकेगा ?

ज्ञान आत्मा है — ऐसा जिनदेव का मत है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी भी द्रव्य में ज्ञान नहीं रहता है; अतः ज्ञान आत्मा ही है तथा आत्मा ज्ञान भी है और अन्य सुख आदि भी है।

- प्रवचनसार, आचार्य कुन्दकुन्ददेव

१. निर्विकारचिदानन्दैकस्वभावपदमात्मनो भिन्नमभिन्नं
चेत्युक्ते प्रत्युत्तरं ददाति —

ज्ञानाद्भिन्नो न चाभिन्नो, भिन्नाभिन्नः कथंचन।

ज्ञानं पूर्वापरीभूतं, सोऽयमात्मेति कीर्तितः ॥४॥

यत् यस्मात् कारणात् पूर्वापरीभूतं प्रथमोत्तरं संजातं ज्ञानं
स्वपरग्राहकप्रमाणम्। सोऽयं सः एष आत्मेति सहजप्रकाशः
इति कीर्तितः कथितः; तत्तस्मात्कारणात् आत्मा ज्ञानाद्भिन्नो
न चाभिन्नो ज्ञानतः पृथक् भवति अतो भिन्नः, ज्ञानात् पृथक् न

१. निर्विकार चिदानन्द एक स्वभावपदरूप वह ज्ञान आत्मा
से भिन्न है या अभिन्न? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं —

नहीं ज्ञान से भिन्न अभिन्न रु, भिन्नाभिन्न कथंचित् है।

पूर्वोत्तर सब ज्ञान दशा से, वह यह आत्मा पूरित है ॥४॥

श्लोकार्थः — वह यह आत्मा ज्ञान से (सर्वथा) भिन्न नहीं
है, तथा ज्ञान से सर्वथा अभिन्न भी नहीं है; वह कथंचित् भिन्न
भी है और कथंचित् अभिन्न भी है। ज्ञान की पूर्वापर/भूत-
भविष्यत सभी पर्यायोंमय आत्मा कहा गया है।

टीकार्थः — जिसकारण (पूर्वापरीभूतं) पहले और बाद
में उत्पन्न (ज्ञानं) स्व-पर को जाननेवाला प्रमाण ज्ञान (सोऽयं)
वह यह (आत्मेति) आत्मा है, सहज प्रकाशमय है, ऐसा
(कीर्तितः) कहा गया है; उसकारण आत्मा (ज्ञानाद्भिन्नो न
चाभिन्नो) ज्ञान से पृथक् है, अतः भिन्न है तथा ज्ञान से पृथक्
नहीं है, अतः अभिन्न है; इसप्रकार (भिन्नाभिन्नः कथंचन)
अनेकान्तरूप से भिन्न और अभिन्न स्वरूपी है।

भवतीति अभिन्न; इति भिन्नाभिन्नः कथंचन अनेकान्तरूपेण भिन्नाभिन्न स्वरूपः। अनेन नित्यैकान्तक्षणिकैकान्तपरिहारेण ज्ञानज्ञानिनोर्न सर्वथा भेद इति भावार्थः ॥४ ॥

२. उपयोगलक्षणोऽयमात्मा ज्ञानात्सर्वथा भिन्न एव, सर्वथा अभिन्न एवेति वा न भवति, तर्हि किंरूपो भवतीति एकान्त-मान्यता परिहरन् तल्लक्षणस्वरूपमनेकान्तदृष्ट्या सप्तभंग्यात्मक-मिति विशेषेण निर्दिशति —

इति एवं प्रकारेण इत्थमिति वा कीर्तितः यशस्वितां नीतः सम्यक्तया कथितः। कः? अयमात्मा, केन प्रकारेण? यत् पूर्वापरीभूतं ज्ञानं भूतभविष्यत्समस्तपरिच्छेदनपर्यायसमूहरूपं स एवायमात्मेति कथितः। कैः? सर्वज्ञैर्गणधरदेवादिभिर्वेति शेषः।

इसप्रकार नित्य एकान्त और क्षणिक एकान्त के निराकरण से ज्ञान और ज्ञानी के सर्वथा भेद नहीं है — इसका निरूपण किया गया है; यह भावार्थ है ॥४ ॥

२. उपयोगलक्षणवाला यह आत्मा ज्ञान से सर्वथा भिन्न ही है, अथवा सर्वथा अभिन्न ही है अथवा ऐसा भी नहीं है; तो किसरूप है? इसप्रकार एकान्त मान्यताओं का परिहार करते हुए सप्तभंगात्मक अनेकान्तदृष्टि से उसका लक्षण और स्वरूप विशेषरूप से बताते हैं —

टीकार्थ : — (इति) इसप्रकार से (कीर्तितः) यशस्विता को लाया गया है/सम्यक् प्रकार से कहा गया है। कौन सम्यक् प्रकार से कहा गया है? (अयमात्मा) यह आत्मा कहा गया है। यह किस प्रकार से कहा गया है? (पूर्वापरीभूतं ज्ञानं) जो भूत-भविष्यत् सभी जाननेवाली पर्यायों के समूहरूप ज्ञान है, वही आत्मा है — ऐसा कहा गया है। ऐसा किनके द्वारा कहा गया है? सर्वज्ञ या गणधरदेवादि द्वारा ऐसा कहा गया है — यह शेष है

कथंभूतः स आत्मा? ज्ञानादभिन्नो न सर्वथा ज्ञानादभिन्न एवेति न।
 आत्मा द्रव्यं, ज्ञानं गुणः द्रव्यगुणयोः सर्वथा भेद एव; समवाय-
 सम्बन्धेनात्मा ज्ञानवान् भवतीति वैशेषिकादिमतं न सम्य-
 गित्यर्थः। पुनः कथंभूतः स आत्मा? च पुनः अपीति वा स
 आत्मा अभिन्नो न भवति, 'च' शब्दसामर्थ्यात् न शब्दस्यो-
 भयत्रापि सम्बन्धो योज्यः। स आत्मा सर्वथा ज्ञानादभिन्नोऽपि
 न भवतीत्यर्थः। पुनः कथंभूतः स भवति इत्याह कथंचन
 भिन्नाभिन्नः कथंचिदभिन्नः कथंचिदभिन्नश्च भवति इत्याशयः।
 पर्यायापेक्षया भिन्नः प्रत्यभिज्ञानविषयत्वेन द्रव्यापेक्षया त्वभि-
 न्नश्च। द्रव्यगुणयोः पृथक् सत्ताकत्वासिद्धेनात्मज्ञानयोः सर्वथा

(मूल पद्य में नहीं होने पर भी प्रसंगवश ऊपर से लगा लेना)।
 वह आत्मा कैसा है? (ज्ञानादभिन्नो न) ज्ञान से भिन्न नहीं है,
 सर्वथा ज्ञान से भिन्न ही है—ऐसा नहीं है। आत्मा द्रव्य है, ज्ञान गुण
 है, द्रव्य और गुण में सर्वथा भेद ही है, समवाय सम्बन्ध से आत्मा
 ज्ञानवान् होता है — इसप्रकार माननेवाले वैशेषिकादिमत सम्यक्
 नहीं हैं, ऐसा अर्थ है। वह आत्मा और कैसा है? (चाभिन्नो)
 इसीप्रकार वह आत्मा अभिन्न भी नहीं है। 'च' शब्द की सामर्थ्य
 से 'न' शब्द का संबंध दोनों ओर जोड़ना चाहिए। वह आत्मा ज्ञान
 से सर्वथा अभिन्न भी नहीं है — ऐसा इसका अर्थ है। वह आत्मा
 और कैसा है? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं (कथंचन भिन्नाभिन्नः)
 कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है — ऐसा आशय है।
 पर्याय की अपेक्षा भिन्न है और प्रत्यभिज्ञान का विषय होने से द्रव्य
 की अपेक्षा अभिन्न है। द्रव्य और गुण की पृथक्-पृथक् सत्ता न
 होने से आत्मा और ज्ञान में सर्वथा भिन्नता नहीं है तथा द्रव्यों के

भिन्नत्वं द्रव्याणामात्मनश्च सर्वथा ज्ञानमात्रत्वासिद्धेनात्मज्ञानयोः
सर्वथाऽभिन्नत्वमेवेति च किन्तु पर्यायार्थिकनयापेक्षया परस्परं
भेदः, द्रव्यार्थिकनयापेक्षयात्वभेद इति सप्तभंग्यात्मकत्व-
मनेकान्तात्मकत्वमेवात्र विभाव्यम् ॥४॥

और आत्मा के सर्वथा ज्ञानमात्रपना सिद्ध नहीं होने के कारण
सर्वथा अभिन्नता भी नहीं है; किन्तु पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा
परस्पर भेद है और द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अभेद है —
इसप्रकार सप्तभंग्यात्मकता और अनेकान्तात्मकता ही यहाँ समुचित
रूप में घटित होती है ॥४॥

ज्ञान-ज्ञेय संबंध की सहजता

णाणी णाणसहावो अट्ठा गेयप्पगा हि णाणिस्स ।
रूवाणि व चक्खूणं गेवण्णोण्णेषु वट्ठंति ॥२८॥
ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी गेयेसु रूवमिव चक्खू ।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं ॥२९॥
जदि ते ण संति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं ।
सव्वगयं वा णाणं कहां ण णाणट्ठिया अट्ठा ॥३१॥

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, पदार्थ आत्मा के ज्ञेय-स्वरूप हैं।
रूपी पदार्थ और नेत्रों के संबंध के समान वे एक-दूसरे में नहीं
रहते हैं।

चक्षु और रूप के संबंध के समान इन्द्रियातीत आत्मा ज्ञेयों
में अप्रविष्ट रहकर और अप्रविष्ट न रहकर समस्त जगत को
जानता-देखता है।

यदि वे पदार्थ ज्ञान में नहीं हों तो ज्ञान सर्वगत नहीं हो
सकता है; क्योंकि ज्ञान सर्वगत है; अतः वे पदार्थ ज्ञानगत हैं ही।

- प्रवचनसार, आचार्य कुन्दकुन्ददेव

१. स चात्मा किं प्रमाणमिति पृष्ठे प्रमाणमावेदयति —

स्वदेहप्रमितश्चायं, ज्ञानमात्रोऽपि नैव सः ।

ततः सर्वगतश्चायं, विश्वव्यापी न सर्वथा ॥५॥

अयं एष आत्मा च यस्मात् कारणात् स्वदेहप्रमितः स्वकी-
यस्वीकृत शरीरप्रमाणः, ततः तस्मात् कारणात् ज्ञानमात्रोऽपि
ज्ञानप्रमाणोऽपि; सर्वगतः सर्वव्यापी सम्मतः अभिमतः; सोऽपि
स च सर्वथा सर्वप्रकारेण विश्वव्यापी न समस्तलोकव्यापको
न तत्सम्मतः ।

१. अब, वह आत्मा किस प्रमाण है (किसके बराबर है)?
ऐसा प्रश्न होने पर प्रमाण का आवेदन करते हैं (मर्यादापूर्वक ज्ञान
कराते हैं) —

अपने देह प्रमाण कहा, पर नहीं सर्वथा देहाकार ।

ज्ञानमात्र भी कहा, तथापि मात्र नहीं है ज्ञानाकार ॥

अतः सर्वगत है यह आत्म, जगव्यापी भी कहा गया ।

पर न सर्वथा जगव्यापी है, अतः कथंचित् सभी कहा ॥५॥

श्लोकार्थः : — यह आत्मा अपने शरीर प्रमाण (शरीर के
बराबर) और ज्ञानमात्र भी है; परन्तु वह सर्वथा सर्वगत/विश्वव्यापी
नहीं है (यह सब कथन कथंचित् ही है, सर्वथा नहीं है) ।

टीकार्थः : — (अयं) यह आत्मा जिसकारण (स्वदेह-
प्रमितः) अपने स्वीकृत (वर्तमान) शरीर प्रमाण है, (ततः)
उसकारण (ज्ञानमात्रोऽपि) ज्ञानमात्र भी है, (सर्वगतः) उसे
सर्वगत/विश्वव्यापी भी स्वीकार किया गया है; परन्तु वह भी
(सर्वथा) सबप्रकार से (विश्वव्यापी न) विश्वव्यापी/सर्वथा
समस्त लोकालोकव्यापी नहीं माना गया है ।

सहजानन्दचैतन्यप्रकाशात्मतत्त्वं सर्वथा शरीरप्रमाणं न भवतीति तात्पर्यम् ॥५॥

२. आत्मा द्रव्यप्रदेशापेक्षया ज्ञानगुणापेक्षया च कीदृशो भवतीति विभावयति —

च पुनः सःअयं आत्मा स्वदेहप्रमितः स्वस्वदेहः शरीरं तेन प्रमितः तत्प्रमाणं, अपि पुनः ज्ञानमात्रः ज्ञानमेवेति ज्ञानमात्रः ज्ञानप्रमाणः नैव एष एव न भवतीति। तत् किं सर्वगतो विश्वव्यापी वा भवति? इति प्रश्ने सत्याह यस्मात् शरीरप्रमाणः ज्ञानमात्रो वा नास्ति ततः तस्मात् अयं सर्वगतः विश्वव्यापी च स्यात्, विश्वव्यापी न सर्वथा इत्यपि सर्वथा न; सर्वेषु गतः प्राप्तः सर्वानर्थान् गत्वा परिच्छिनत्ति इति न। तद्वत् विश्वलोकं

सहजानन्द चैतन्यप्रकाशस्वरूपी आत्मतत्त्व सर्वथा शरीर प्रमाण नहीं है — ऐसा तात्पर्य है ॥५॥

२. आत्मा द्रव्य के प्रदेशों की अपेक्षा कैसा है और ज्ञानगुण की अपेक्षा कैसा है? इसे विशेष रूप से व्यक्त करते हैं —

टीकार्थ : — (च स अयं स्वदेहप्रमितः) और वह यह आत्मा अपने-अपने देह के बराबर है, (अपि ज्ञानमात्रः) और वह ज्ञानमात्र भी है, (नैव) परन्तु वह आत्मा मात्र ऐसा ही नहीं है। तो क्या वह सर्वगत/विश्वव्यापी है? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं — जिसकारण यह आत्मा शरीर-प्रमाण या ज्ञानमात्र नहीं है, (ततः) उसकारण (अयं सर्वगतः) यह सर्वगत/विश्वव्यापी (च) हो (हमें स्वीकृत है); परन्तु (विश्वव्यापी न सर्वथा) वह सर्वथा विश्वव्यापी भी नहीं है। सभी में गया होने से सर्वगत है अथवा सम्पूर्ण पदार्थों में जाकर उन्हें जानता है, इसलिए सर्वगत

प्रदेशैः व्याप्नोति इति विश्वव्यापी — इत्यपि सर्वथा न। सर्वथा निषेधात् स कथंचित् स्वदेहप्रमाणः, कथंचित् ज्ञानमात्रः, कथंचित् सर्वगतः, कथंचित् विश्वव्यापी च।

इदमत्र तात्पर्यं संसारावस्थायां शरीरप्रमाणः सन्नपिसमुद्घा-
तावस्थायामधिकप्रमाणोऽपि भवति, मुक्तावस्थायां शरीरप्रमाणात्
किंचिन्यूनोऽपि भवति। किञ्च लोकपूरणसमुद्घातकाले विश्वं
समरज्जुघनाकारं क्षेत्रं प्रदेशैः व्याप्नोति इति विश्वव्यापी भवति
न सर्वदा। तद्वत् न स तदज्ञानं वा अर्थान् गत्वा परिच्छिनत्ति
किन्तु स्वभावतः अर्था एव तत्र प्रतिफलन्ति — “दर्पणतल इव

है — ऐसा भी नहीं है। उसीप्रकार विश्व/लोक को अपने प्रदेशों द्वारा व्याप्त करता है, इसलिए विश्वव्यापी है — ऐसा भी सर्वथा नहीं है। सर्वथापने का सर्वथा निषेध होने से वह कथंचित् अपने शरीर के बराबर है, कथंचित् ज्ञानमात्र है, कथंचित् सर्वगत है और कथंचित् विश्वव्यापी है।

यहाँ तात्पर्य यह है कि आत्मा संसार अवस्था में शरीर के बराबर होने पर भी समुद्घात अवस्था में उससे अधिक प्रमाण वाला भी होता है, मुक्तावस्था में (अन्तिम) शरीर प्रमाण से कुछ न्यून (कम) भी होता है। विशेष यह है कि लोकपूरण समुद्घात के समय सात राजू घनाकार विश्व के क्षेत्र को (अपने) प्रदेशों द्वारा व्याप्त करता है; अतः विश्वव्यापी होता है; सर्वदा/सभी समयों में विश्वव्यापी नहीं है। उसीप्रकार वह आत्मा अथवा उसका ज्ञान पदार्थों के समीप जाकर उन्हें नहीं जानता है, वरन् अपने स्वभाव के कारण पदार्थ ही वहाँ प्रतिफलित/प्रतिबिम्बित होते हैं। (इस सम्बन्ध में) “दर्पणतल के समान जिसमें सम्पूर्ण

सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र।”

(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, मंगलाचरण, उत्तरार्ध)

इत्युक्तत्वात् चक्षुर्भिन्नस्पर्शनादिचतुरिन्द्रियाणां स्पृष्टग्राहित्वं तु न तत्स्वभावविरोधि। तेषां तथाविधत्वेऽपि पदार्थेषु गमनानुपलम्भात्। चक्षुर्मनःसु अन्तरेणैव गत्यागती तत्तद्विषयस्योपलब्धिदर्शनात्, सर्वथा निरावरणावस्थायामेव ज्ञाने पूर्णशुद्धनिरपेक्षस्वभावाविर्भावस्याभिमतत्वात् च। चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वं तु प्रत्यक्षेणानुमानाद्वा सुसिद्धं प्रसिद्धं च ॥५॥

पदार्थों का समूह प्रतिफलित होता है।”

— ऐसा कथन होने से (पदार्थों के ऐसे ही स्वतः सिद्ध स्वभाव की सिद्धि होती है)। नेत्र से भिन्न स्पर्शन आदि चार इन्द्रियों का स्पृष्टग्राहित्व (पदार्थों के साथ सन्निकृष्ट होकर/सम्पर्क कर, उन्हें जानना) भी इस (पदार्थों के प्रतिबिम्बित होने रूप) स्वभाव का विरोधी नहीं है; क्योंकि उन इन्द्रियों के स्पृष्टग्राहित्व होने पर भी, उनका पदार्थों में गमन प्राप्त नहीं है। चक्षु और मन द्वारा (पदार्थों में) गमनागमन के बिना ही उस-उस विषय का ज्ञान हो जाने के कारण भी, तथा पूर्ण शुद्ध निरपेक्ष स्वभाव के आविर्भाव युक्त जीव (भगवान) के सर्वथा निरावरण अवस्था युक्त ज्ञान (केवलज्ञान) में भी यही स्वीकृत होने के कारण (ज्ञान-ज्ञेय का ऐसा ही स्वभाव सिद्ध होता है)। नेत्र का अप्राप्यकारित्व (पदार्थों के साथ सन्निकर्ष/सम्पर्क बिना ही, उन्हें जानना) तो प्रत्यक्ष से तथा अनुमान से सम्यक्प्रकार से सिद्ध है, प्रसिद्ध भी है ॥५॥

१. पुनरप्येकत्वानेकत्वात्मतत्त्वं निरूपयति —

नानाज्ञानस्वभावत्वादेकोऽनेकोऽपि नैव सः ।

चेतनैकस्वभावत्वादेकानेकात्मको भवेत् ॥६ ॥

स आत्मा नानाज्ञानस्वभावत्वादेकज्ञानस्वरूपत्वात्रैकः एको न भवति । चेतनैकस्वभावत्वात् चैतन्यैकस्वरूपतः अनेकोऽपि नैव अनेकात्मको न भवति । एकानेकात्मकः एकानेकस्वरूपः भवेत् स्यात्, द्रव्यपर्यायापेक्षया एकत्वानेकत्वं भवतीति तात्पर्यम् ॥६ ॥

२. पूर्वोक्तगुणधर्मैर्निर्दिश्यमानोऽपि आत्मा किं स्वरूपतः एकः

अब और भी एकत्व-अनेकत्व रूप से आत्मतत्त्व का निरूपण करते हैं —

नाना ज्ञान स्वभावरूपता से है एकानेक तथा ।

एकानेक नहीं है वह ही, अतः कथंचित् सभी कहा ॥

चेतन एक स्वभावरूपता, से है एक तथापि वह ।

अनेकात्मक भी होता है, अनेकान्तमय चेतन यह ॥६ ॥

श्लोकार्थः — विविध ज्ञान स्वभाववाला होने से वह एक (आत्मा) अनेक होते हुए भी (मात्र) वैसा ही नहीं है । एक चेतन स्वभाववाला होने से वह एक भी है-इसप्रकार वह एकानेकात्मक है ।

टीकार्थः — (सः) वह आत्मा (नानाज्ञानस्वभावत्वात्) अनेक ज्ञानस्वभाववाला होने से (नैकः) एक नहीं है । (चेतनैकस्वभावत्वात्) एक चेतन स्वभाववाला होने से (अनेकोऽपि नैव) अनेक भी नहीं है । (एकानेकात्मको) (इसप्रकार वह) एकानेकस्वरूप (भवेत्) हो (है) ।

आत्मा का द्रव्य की अपेक्षा एकत्व और पर्याय की अपेक्षा अनेकत्व है — यह तात्पर्य है ॥६ ॥

२. पूर्वोक्त गुण-धर्मों द्वारा समझाए जाने पर भी आत्मा स्वरूप

अनेको वा? इति प्रश्नमुत्तरयति —

सः पूर्वोक्तः आत्मा एकः एकस्वभावः असंख्यातप्रदेश-
प्रमितैकप्रदेशवान् अपरिणामी । अनन्तगुणधर्मस्वभावविलक्षणः
विवक्षितैकस्वभावो न, अपि च अनेकः निरन्वय अनेकपरिणा-
मस्वभावः । नित्यानन्तप्रदेशरूपः विभिन्नसत्ताकानेकगुण-
धर्मात्मको वा नैव नास्त्येव । 'अपि नैव' इति शब्दाः उभयत्रापि
योज्याः 'एव' शब्दस्यावधारणार्थत्वात् । स आत्मा सर्वथा एको-
ऽपि नास्ति अनेकोऽपि नास्ति इत्यर्थः । तर्हि कीदृशः? किं
निःस्वभावः? इति प्रश्ने उत्तरयति — स एव आत्मा एकानेकात्म-
को भवेत् एकश्चानेकश्च एकानेकौ तौ उभावपि आत्मा स्वभावो

से क्या एक है अथवा अनेक? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं -

टीकार्थः — (सः) वह पहले (श्लोकों द्वारा) कहा गया
आत्मा (एकः) एकस्वभावी है, असंख्यात प्रदेश प्रमाण अखण्ड
एक प्रदेशवान्, अपरिणामी है । विलक्षण (विविध लक्षण वाले)
अनन्त गुण, धर्म, स्वभाव सम्पन्न होने से विवक्षित एक स्वभाव
वाला नहीं है, (अपि च अनेकः) अन्वय रहित/व्यतिरेक स्वरूप/
पृथक्-पृथक् अनेक परिणाम स्वभावी होने से अनेक भी है ।
अथवा नित्य अनन्तप्रदेशरूप, विभिन्न सत्ताओं सम्बन्धी अनेक
गुण धर्मात्मक (नैव) नहीं ही है । 'एव ही' शब्द पूर्वापर अर्थ
का निश्चय कराने वाला होने से 'अपि नैव — इतना ही नहीं
है' — इसे दोनों में ही लगा लेना चाहिए । वह आत्मा सर्वथा एक
भी नहीं है, अनेक भी नहीं है — यह इसका अर्थ है ।

यदि आत्मा ऐसा नहीं है, तो फिर कैसा है? क्या निःस्वभाव/
स्वभाव रहित है? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं - वह (एक)
ही आत्मा (एकानेकात्मको भवेत्) एक और अनेक-एकानेक,

यस्य सः एकानेकात्मकः, स्वार्थे 'क'। कथमितिचेत् हेतुवादेन समर्थयति — नानाज्ञानस्वभावत्वात्, चेतनैकस्वभावत्वात्, नाना च ज्ञानानि च नाना ज्ञानानि तानि स्वभावो यस्य सः, तस्य भावस्तस्मात्। एतेन सर्वथैकस्वभावत्वं निषिध्य कथंचि-देकस्वभावत्वं प्रतिपादयति। चेतना एव एक स्वभावो यस्य सः तस्य भावस्तस्मात्। एतेन कथंचिदेकस्वभावत्वं समर्थ्य सर्वथा नानास्वभावत्वं परिहरति।

एतेनोर्ध्वतासामान्यापेक्षया, तिर्यक् सामान्यापेक्षया च आत्मनः कथंचित् एकात्मकत्वमनेकात्मकत्वं साधितं, उभयथा सर्वथैकान्तवादस्तु परिहृतो भवति ॥६॥

वे दोनों ही हैं आत्मा/स्वभाव जिसके वह एकानेकात्मा, स्वार्थ में 'क' प्रत्यय का प्रयोग हो जाने से एकानेकात्मक बना। वह एक दोनों रूप कैसे है? इसका हेतुवाद से समर्थन करते हैं — (नानाज्ञानस्वभावत्वात्, चेतनैकस्वभावत्वात्) नाना और ज्ञान-नाना ज्ञान/अनेक प्रकार के ज्ञान, वे हैं स्वभाव जिसके वह (आत्मा), उसका भाव — नानाज्ञानस्वभावत्व, उसरूप होने से (वह अनेक है)। इससे सर्वथा एक स्वभावत्व का निषेधकर, कथंचित् एक स्वभावत्व का प्रतिपादन किया। चेतना ही है एक स्वभाव जिसका वह (आत्मा), उसका भाव — चेतनैकस्वभावत्व, उसरूप होने से (वह एक है)। इसके द्वारा कथंचित् एकस्वभावत्व का समर्थन कर, सर्वथा नानास्वभावत्व का निषेध किया है।

इसके द्वारा ऊर्ध्वता-सामान्य (काल/पर्याय) की अपेक्षा और तिर्यक्-सामान्य (क्षेत्र/प्रदेश) की अपेक्षा से आत्मा का कथंचित् एक-स्वरूपत्व और अनेक-स्वरूपत्व सिद्ध किया गया है; तथा दोनों ही प्रकार के सर्वथा एकान्तवाद का निराकरण किया गया है ॥६॥

१. पुनरपि एतत् सहजपरमात्मतत्त्वं वाच्यावाच्यं भवतीति निरूपयति —

नावक्तव्यः स्वरूपाद्यैः, निर्वाच्यः परभावतः।

तस्मान्नैकान्ततो वाच्यो, नापि वाचामगोचरः॥७॥

स एव एकानेकरूपः आत्मा स्वरूपाद्यैः स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल-स्वभावरूप-स्वरूपादिचतुष्टयेन वक्तव्यः, आत्मादि-शब्दैर्वाच्यः। परभावतः परद्रव्य-परक्षेत्र-परकाल-परभावरूपादिचतुष्टयेन निर्वाच्यः, अनात्मादिशब्दैर्वाच्यः। तस्मात् ततः कारणात् एकान्ततः सर्वप्रकारेण वाच्यः वचनविषयो न भवति, वाचामगोचरः वचनानामविषयः नापि न स्यात्।

१. अब, यह सहज परमात्मतत्त्व वाच्य भी है और अवाच्य भी, ऐसा निरूपण करते हैं —

अवक्तव्य है नहीं स्वरूपादि से पर परभावों से।

अवक्तव्य है अतः वाच्य निर्वाच्य कहा है सदा उसे॥७॥

श्लोकार्थः : — (आत्मा) स्वरूप आदि से अवक्तव्य नहीं है, परन्तु परभाव की अपेक्षा अवक्तव्य है; अतः एकान्त से (सर्वथा) (वह) न वाच्य है और न अवाच्य है।

टीकार्थः : — वही एकानेक स्वभावी आत्मा (स्वरूपाद्यैः) स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल-स्वभावरूप स्वरूपादिचतुष्टय से वक्तव्य है; आत्मा आदि शब्दों द्वारा वाच्य है/कहा जाता है। (परभावतः) परद्रव्य-परक्षेत्र-परकाल-परभावरूप पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा निर्वाच्य है (कहा नहीं जा सकता है) अनात्मा आदि शब्दों द्वारा अवाच्य है। (तस्मान्नैकान्ततो वाच्यो नापि वाचामगोचरः) इसलिए एकान्त से/सर्वप्रकार से/सर्वथा आत्मा, वचन का विषय नहीं है तथा वचनों का अविषय भी नहीं है।

स्वरूपादिचतुष्टयेन वाच्यः, पररूपादिचतुष्टयेनाववाच्यो भवतीति भावार्थः ॥७॥

२. पूर्वोक्तकथनेन हि आत्मनः न सर्वथा एकस्वभावत्व-
मनेकस्वभावत्वं वा वक्तुं शक्यते । तेन तस्य सर्वथा अवक्तव्य-
स्वभावत्वमेव सिद्धयति, इत्याशंका परिहारार्थं सर्वथा वक्तव्य-
स्वभावत्वमपि निषिध्य कथंचित्तत्त्वभावतां तस्य प्रदर्शयति -

सः पूर्वोक्त आत्मा नावक्तव्यो सर्वथा अवक्तव्य एव न
भवति किन्तु वक्तव्योऽप्यस्तीत्यर्थः । कुतः कथमिति चेत्
हेतुरूपकारणेन स्पष्टीकरोति — स्वरूपाद्यैः स्वस्य रूपं स्वरूपं
अथवा स्वं रूपं स्वरूपं, तत् आद्यं येषां गुणधर्माणामिति

स्वरूपादि चतुष्टय से वाच्य है और पररूपादि चतुष्टय से
अवाच्य है — यह भावार्थ है ॥७॥

२. पूर्वोक्त (छठवे श्लोक के) कथन द्वारा आत्मा को न तो
सर्वथा एक स्वभावी कहना शक्य है और न ही अनेक स्वभावी;
(तब फिर) इससे तो उसका सर्वथा अवक्तव्य स्वभावत्व ही
सिद्ध होता है; इसप्रकार की आशंका का परिहार करने के लिए
सर्वथा अवक्तव्य का भी निषेध कर, उसकी कथंचित् अवक्तव्य
स्वभावता को प्रदर्शित करते हैं —

टीकार्थ : — वह पूर्वोक्त आत्मा (नावक्तव्यः) सर्वथा
अवक्तव्य ही नहीं है, किन्तु वक्तव्य भी है — ऐसा अर्थ है । वह
सर्वथा न अवक्तव्य कैसे है? ऐसा प्रश्न होने पर (उसे) हेतु रूप
कारण द्वारा स्पष्ट करते हैं — (स्वरूपाद्यैः) स्व का रूप स्वरूप
अथवा स्व-रूप — स्वरूप, वह है आद्य/प्रमुख जिन गुण-धर्मों का,

तैः स्वरूपाद्यैः; द्रव्यतः अभिन्नसत्ताकैरस्तित्वादिभिः विवक्षितै-
र्वा धर्मैः, पर्यायाश्रितैर्द्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रितैर्घटत्वादिभिर्मनुष्य-
त्वादिभिश्च ।

एवं चेदवक्तव्यो न भवति, तर्हि किं वक्तव्य एवेति
शंकापनोदाय पक्षान्तरं सूचयति — स आत्मा कथंचित् *निर्वाच्यो*
भवति, निर्गतो वाच्येभ्यः निर्वाच्यः अर्थात् अवक्तव्योऽप्यस्ति ।
कथमिति चेत्? तत्कारणतां प्रव्यक्तीकरोति *परभावतः* परस्य
परेषां वा भावः, परे च ते भावाः परभावा इति वा, तेभ्यः,

उन स्वरूपादि द्वारा (इसप्रकार क्रमशः षष्ठी तत्पुरुष और कर्मधारय
समास द्वारा विश्लेषण करके पुनः बहुब्रीहि समास कर, फिर
तृतीया विभक्ति बहुवचन का प्रयोग किया); द्रव्य से अभिन्न सत्ता
वाले अस्तित्व आदि अथवा विवक्षित धर्मों द्वारा, तथा पर्यायाश्रित
या द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आश्रित घटत्व (घड़ापना) आदि या
मनुष्यत्व आदि से वक्तव्य है ।

ऐसा होने पर (तो वह) अवक्तव्य नहीं है, तो क्या (मात्र)
वक्तव्य ही है? इस शंका का निराकरण करने के लिए दूसरा पक्ष
सूचित करते हैं — वह आत्मा कथंचित् (*निर्वाच्यः*) निर्वाच्य
है, वचनों से बाहर होना निर्वाच्य है, अवक्तव्य भी है। वह
अवक्तव्य कैसे है? इस प्रश्न के उत्तर में उसका कारण स्पष्ट करते
हैं — (*परभावतः*) दूसरे का या दूसरों का भाव परभाव है,
अथवा पर और वे भाव परभाव (इसप्रकार षष्ठी तत्पुरुष और
कर्मधारय समास से विश्लेषण किया) ।

‘उनसे’ — इसप्रकार हेतु अर्थ में पंचमी के स्थान पर ‘तस्’
प्रत्यय का प्रयोग करने से परभावतः शब्द बना। पूर्वोक्त ही भिन्न

हेत्वर्थे पंचमीस्थाने तस्। भिन्नसत्ताकैरविवक्षितैर्वा गुणधर्मैः
पूर्वोक्तैरेव, मूर्तत्वादिभिर्ज्ञानादिभिर्वा।

तेन किं सिद्धमिति निरूपयति — यतः सर्वथा न
अवक्तव्यो नापि सर्वथा वक्तव्य एवेति तस्मात् न एकान्ततः
वाच्यः वक्तव्यः नापि एकान्ततः वाचामगोचरः अवक्तव्यः।
एकश्चासौ अन्तो धर्मो यत्र स एकान्तः तस्मात् एकान्ततः।
वस्तूनामेकधर्मात्मकत्वे, अप्रतिपक्षानेकधर्मात्मकत्वपक्षस्वीकारे
वा, सर्वथात्वेन वक्तव्यत्वावक्तव्यत्वयोर्निषेधः, न वस्तुनोऽने-
कान्तात्मकत्वे, प्रतिपाद्यधर्माणां सप्रतिपक्षत्वांगीकारे वा।

सत्ता वाले अथवा अविवक्षित गुण-धर्मों से अथवा मूर्तत्व आदि
या ज्ञानादि की अपेक्षा अवक्तव्य भी है।

इस (सर्व कथन) से क्या सिद्ध हुआ? उसका निरूपण करते
हैं — क्योंकि आत्मा सर्वथा अवक्तव्य नहीं है, तथा सर्वथा वक्तव्य
भी नहीं है, (तस्मान्नैकान्ततो वाच्यो नापि वाचामगोचरः)
इसलिए न तो एकान्त से (मात्र) वाच्य/वक्तव्य है और न ही
एकान्त से वचन अगोचर/अवक्तव्य है। एक और वह अन्त/धर्म
जिसमें है वह एकान्त है, उससे अर्थात् एकान्त से ('एकान्त'
शब्द का कर्मधारय समास द्वारा विश्लेषण कर, उसमें पंचमी
विभक्ति का प्रयोग किया।) किसी एक रूप नहीं है।

वस्तुओं को एकधर्मात्मक स्वीकार करने पर या वस्तुओं के
अविरोधी अनेक धर्मात्मकपने का पक्ष स्वीकार करने पर, सर्वथापने
का प्रसंग आने से, वक्तव्यता-अवक्तव्यता का निषेध किया गया
है; परन्तु वस्तु को अनेकान्तात्मक स्वीकार करने पर या प्रतिपाद्य

एवं चैकस्मिन्नैव काले कथंचित् वस्तुनः आत्मनो वा वक्तव्यत्वमवक्तव्यत्वं च प्रसिद्धं भवति। विशेषतस्तु सप्त-भंग्यात्मकत्वं वस्तुनः ग्रन्थान्तरेभ्यः ऊह्यम् ॥७॥

धर्मों की सप्रतिपक्षता स्वीकार करने पर उनका (वक्तव्यता-अवक्तव्यता का) निषेध नहीं है।

इसप्रकार एक ही समय में आत्मवस्तु के कथंचित् वक्तव्यता-अवक्तव्यता प्रसिद्ध है। विशेष रूप से वस्तु का सप्तभंग्यात्मकपना समझने हेतु अन्य ग्रन्थों से विचार-विमर्श करना चाहिए ॥७॥

— वस्तु की कथंचित् वक्तव्यता-अवक्तव्यता —

अवस्त्वनभिलाष्यं स्यात्सर्वान्तैः परिवर्जितम्।

वस्त्वेवावस्तुतां याति प्रक्रियाया विपर्ययात् ॥४८॥

सर्वान्ताश्चेदवक्तव्यास्तेषां किं वचनं पुनः।

संवृतिश्चेन्मृषैवैषा, परमार्थविपर्ययात् ॥४९॥

अशक्यत्वादवाच्यं किमभावात्किमबोधतः।

आद्यन्तोक्तिं द्वयं न स्यात् किं व्याजेनोच्यतां स्फुटम् ॥५०॥

जो सभी धर्मों से रहित है, वह अवस्तु है और वही अवाच्य है। वास्तव में तो वस्तु ही प्रक्रिया के बदल जाने से/परचतुष्टयादि की अपेक्षा अवस्तुता को प्राप्त होती है/अवस्तु कहलाती है।

यदि सभी धर्मों को सर्वथा अवक्तव्य माना जाए तो फिर धर्मदेशनारूप, स्वपक्ष के साधन और परपक्ष के दूषणरूप वचन भी कैसे हो सकते हैं ? यदि कहा जाए कि वचन संवृतिरूप हैं तो संवृतिरूप वचन से सत्य का प्रतिपादन कैसे होगा?

सर्वथा अवाच्यता अशक्ति, अभाव या अज्ञान के कारण ही सम्भव है। इन तीनों में से अशक्ति और अज्ञान का कथन तो बनता ही नहीं है; अतः अभाव ही मानना पड़ेगा। विद्यमान वस्तु तो कथंचित् वाच्य होती ही है।

- देवागमस्तोत्र : आचार्य समंतभद्रस्वामी

१. पुनरपि अस्ति-नास्तिरूपेणात्मतत्त्वमावेदयति —

स स्याद्विधिनिषेधात्मा, स्वधर्मपरधर्मयोः।

समूर्तिर्बोधमूर्तित्वादमूर्तिश्च विपर्ययात् ॥८॥

सः तत् सहजविलासविजृम्भितात्मपदार्थः स्वधर्मपरधर्मयोः
आत्मगतज्ञानादिधर्मः परगतरूपादिधर्मयोर्विवक्षितयोः सतोः
विधिनिषेधात्मा अस्तिनास्तिस्वरूपः स्याद् भवेत्। बोधमूर्ति-
त्वात् ज्ञानस्वरूपत्वात् समूर्तिः मूर्तियुक्तः, विपर्ययात् रूपादि-
रहितत्वात् अमूर्तिः अमूर्तो भवति।

१. अब, अस्ति-नास्तिरूप से पुनः आत्मतत्त्व का आवेदन करते हैं (मर्यादापूर्वक ज्ञान कराते हैं) —

अपने धर्मों का वा परधर्मों का क्रम से विधि-निषेध।

करने वाला सदा आत्मा, उसमें मूर्तिक का प्रतिषेध ॥

तो भी ज्ञानमूर्ति होने से, सदा मूर्तिक कहा गया।

पर है पृथक् शरीरादि से, अतः अमूर्तिक सदा रहा ॥८॥

श्लोकार्थः :— वह आत्मा अपने धर्मों की विधि तथा परधर्मों का निषेध करने के स्वभाववाला है। ज्ञानमूर्ति होने से वह समूर्ति है तथा इससे भिन्न अर्थात् पुद्गलादि पर पदार्थों रूप मूर्ति न होने से अमूर्तिक है।

टीकार्थः :— (सः) वह सहज विलास से विस्तृत आत्मपदार्थ (स्वधर्मपरधर्मयोः) विवक्षित आत्मगत ज्ञानादि धर्मों के और विवक्षित परगत रूपादि धर्मों के होने से (विधिनिषेधात्मा) अस्ति-नास्ति स्वरूप (स्यात्) है। (बोधमूर्तित्वात्) ज्ञानस्वरूपी होने के कारण (समूर्तिः) मूर्तियुक्त/मूर्तिक है, (विपर्ययात्) रूपादि रहित होने के कारण (अमूर्तिः) अमूर्तिक है।

सर्वथा अस्तिनास्तिस्वरूपं वस्तु नास्तीति तात्पर्यम् ॥८ ॥

२. एवं पूर्वोक्तसप्रतिपक्षधर्मतां निर्दिश्य इदानीं सामान्येन वस्तुनः विधिप्रतिषेधात्मकतास्वभावं प्रतिपाद्य आत्मनो मूर्ता-मूर्तात्मकतां निरूपयति —

स पूर्वोक्तः सप्रतिपक्षानेकधर्मात्मकः आत्मा स्यात् कथंचिदस्ति। कथंभूतः? विधिनिषेधात्मा विधिश्च निषेधश्च विधिनिषेधौ तौ आत्मा स्वभावो यस्य सः; सामान्येन वस्तु-मात्रस्य विधिप्रतिषेधात्मकत्वादात्मापि तथाभूतः। कथमेकस्यैव वस्तुनो विधिप्रतिषेधात्मकत्वं, विरोधादिदोषसंभवादितिचेत्, न;

वस्तु सर्वथा अस्ति स्वरूप या सर्वथा नास्ति स्वरूप नहीं है-यह तात्पर्य है ॥८ ॥

२. इसप्रकार पूर्वोक्त सप्रतिपक्ष धर्मों का निर्देश कर, अब सामान्यरूप से वस्तु के विधि-प्रतिषेधात्मक स्वभाव का प्रतिपादन कर आत्मा के मूर्त-अमूर्त स्वभाव का निरूपण करते हैं —

टीकार्थः — (स) वह पूर्वोक्त सप्रतिपक्ष (परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले) अनेक धर्मात्मक आत्मा (स्यात्) कथंचित् है। वह कैसा है? (विधिनिषेधात्मा) विधि और निषेध-विधि-निषेध, वे दोनों हैं स्वभाव जिसके वह विधिनिषेधात्मक आत्मा (क्रमशः द्वन्द्व समास और बहुब्रीहि समास द्वारा विश्लेषण है); वस्तुमात्र के ही सामान्य से विधिप्रतिषेधात्मकता होने के कारण आत्मा भी इस स्वभाववाला है।

विरोधादि दोष सम्भव होने से, एक ही वस्तु के विधि-प्रतिषेधात्मकता कैसे हो सकती है? यदि ऐसा प्रश्न हो तो कहते हैं — ऐसा नहीं है (उनका एक ही वस्तु में रहना विरुद्ध नहीं

कथं? स्वधर्मपरधर्मयोः स्वस्य धर्मः स्वधर्मः, परस्य धर्मः परधर्मः, तयोः; यद्वा यो यत्र विवक्षितः स तत्र स्वधर्मः, यश्चाविवक्षितः स परधर्म इति स्वधर्मापेक्षायां विध्यात्मकत्वं परधर्मापेक्षायां निषेधात्मकत्वमित्यर्थः। नहि किञ्चिदपि वस्तु कदाचिदपि स्वस्वरूपं सर्वथा त्यजति, परस्वरूपं चात्मसात्कुरुते। एवं च वस्तुमात्रस्वभावानतिक्रमादात्मापि विधि-प्रतिषेधात्मा सिद्धः।

किं चात्मनो विशिष्टस्वभावं, तत्रापि विधिप्रतिषेधात्मकत्वं च प्रव्यक्तीकरोति। यतः स आत्मा अस्ति; कथंभूतः? समूर्तिः मूर्त्याः स्वभावेन आकारेण वा सहितः समूर्तिः। कथं? बोध-

है)। ऐसा कैसे नहीं है? (इसका उत्तर देते हुए कहते हैं) (स्वधर्मपरधर्मयोः) स्व का धर्म स्वधर्म, पर का धर्म परधर्म, उन दोनों की अपेक्षा; अथवा जो जहाँ विवक्षित है, वह वहाँ स्वधर्म है और जो अविवक्षित है, वह परधर्म है — इसप्रकार स्वधर्म की अपेक्षा विध्यात्मकता (अस्ति-स्वरूप) है और परधर्म की अपेक्षा निषेधात्मकता (नास्ति-स्वरूप) है — ऐसा अर्थ है। कभी भी कोई भी वस्तु सर्वथा अपने स्वरूप को छोड़ती नहीं है और परस्वरूप को आत्मसात्/ग्रहण नहीं करती है। इसप्रकार वस्तुमात्र ही (कोई भी वस्तु) स्वभाव का उल्लंघन करने वाली न होने से, आत्मा भी विधि-प्रतिषेधात्मक सिद्ध हुआ।

विशेष यह है कि आत्मा का जो विशिष्ट स्वभाव है, उसमें भी विधि-प्रतिषेधात्मकता विशेष रूप से स्पष्ट करते हैं — जो वह आत्मा है; वह कैसा है? (समूर्तिः) वह मूर्तिक है, स्वभाव से अथवा आकार से सहित समूर्ति है। वह समूर्तिक कैसे है? (बोधमूर्तित्वात्) बोध, चैतन्य का उपयोग या साकार परिणति; वह

मूर्तित्वात् बोधश्चैतन्यमुपयोगः साकारपरिणतिर्वा; सा एव मूर्तिः आकारः वा यस्य स, तस्य भावस्तस्मात्; चैतन्यस्वभावा-
दुपयोगात्मकत्वाद्वा ।

इदानीं तत्प्रतिपक्षस्वभावं दर्शयति — स आत्मा न केवलं समूर्तिः, अमूर्तिश्चास्ति । कथं? विपर्ययात् वि विरुद्धं चैतन्य-
स्वभावरहितत्वेन, पर्येति परिणमयति इति विपर्ययः, तस्मात्-
अचिद्द्रव्यापेक्षया, मूर्तिमद्द्रव्यापेक्षया, चेतनेतरगुणधर्मापेक्षया
वा रूपादिमत्त्वं संस्थानविशेषो वा मूर्तिः, आत्मनस्तद्वि-
लक्षणत्वादिति ॥८ ॥

ही है मूर्ति या आकार जिसका वह बोधमूर्ति, उसका भाव —
बोधमूर्तिता, उसके कारण समूर्ति है; अथवा चैतन्यस्वभाव से
उपयोगात्मकता होने के कारण आत्मा समूर्ति है ।

अब, उसका प्रतिपक्ष स्वभाव दिखाते हैं — वह आत्मा मात्र
समूर्ति ही नहीं है, अमूर्ति भी है । वह अमूर्ति कैसे है?
(विपर्ययात्) (वि) विरुद्ध-चैतन्यस्वभाव की रहितता रूप,
(पर्येति) परिणमित होता है, वह विपर्यय है; उससे अमूर्तिक
है; अर्थात् अचेतन द्रव्यों की अपेक्षा, मूर्तिमान (पुद्गल) द्रव्य की
अपेक्षा अथवा चेतन से भिन्न गुण-धर्मों की अपेक्षा आत्मा अमूर्तिक
है । रूपादि-सम्पन्नता या संस्थान/आकार विशेष मूर्तिक कहलाता
है, आत्मा का उनसे भिन्न लक्षण होने के कारण; वह अमूर्तिक
है ॥८ ॥

निरपेक्षानया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत् ॥१०८ ॥ उत्तरार्ध

निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं तथा सापेक्ष नय सम्यक् और प्रयोजनभूत क्रिया
करने में समर्थ होते हैं ।

- देवागमस्तोत्र, आचार्य समन्तभद्रस्यामी

१. निश्चयेन सहजसुखरसस्वादकोऽपि व्यवहारेण कर्म-
फल-भोक्ता भवताति सूचयति —

इत्याद्यनेकधर्मत्वं, बन्धमोक्षौ तयोः फलम्।

आत्मा स्वीकुरुते तत्तत्कारणैः स्वयमेव तु ॥९॥

हे आत्मन् सहजसुखनिलयपरमपदार्थत्वं त्वं च इत्याद्यनेक-
धर्मत्वं कथितोपयोगादिधर्मस्वरूपो भवसि असि तु पुनः
स्वयमेव त्वमेव बन्धमोक्षौ प्रकृत्याद्यात्मकबन्धस्तद्विलक्षणमोक्षः
तयोः तत् बन्ध-मोक्षयोः फलं कार्यरूपं तत्तत्कारणैस्तेषां कारणैः
स्वीकुरुषे, स्वयमेवाभ्युपगच्छसि।

१. निश्चयनय से सहजसुखरस का स्वाद लेनेवाला/अनुभव
करने वाला होने पर भी आत्मा व्यवहार से कर्मफल का भोक्ता
है; ऐसा सूचित करते हैं —

इत्यादि अनेक धर्मों को, बंध-मोक्ष उनके फल को।

स्वयं उन्हीं के कारण से, आत्म धारण करता सबको ॥९॥

श्लोकार्थ : — एक-अनेक इत्यादि अनेक धर्मता को, बंध-
मोक्ष को और उनके फल को, उन-उन कारणों से आत्मा स्वयं
ही स्वीकार करता है।

टीकार्थ : — सहज सुख के निलय, परमपदार्थस्वरूपी हे
आत्मन्! तुम ही (इत्याद्यनेकधर्मत्वं) कहे गए उपयोग आदि
धर्म स्वरूप हो तथा (स्वयमेव) तुम स्वयं ही (बन्धमोक्षौ)
प्रकृति आदिरूप बंध और उससे विलक्षण मोक्ष को (तयोः) उन
बंध और मोक्ष के (फलं) कार्यरूप फल को (तत्तत्कारणैः)
उन-उनके कारणों द्वारा (स्वीकुरुषे) स्वीकार करते हो।

बन्धमोक्षफलानुभवसामर्थ्याद् बन्ध-बन्धफलं परित्यज्य,
मोक्षमोक्षफले स्वीकुर्यादिति तात्पर्यम् ॥१॥

२. पूर्वोक्तनिदर्शनैरनेकधर्मात्मकत्वकथनमुपसंहृत्य, पर-
संयोगवियोगाद्यपेक्षया जायमानां तस्य तत्त्वव्यवस्थामपि
कारणाद्यल्लेखपूर्वकं स्पष्टीकरोति —

स्वीकुरुते आत्मसात् करोति। कः? आत्मा। किं किं
स्वीकुरुते? इत्याद्यनेकधर्मत्वं इति ये निदर्शत्वेन पूर्वमुक्ता
इदानीं तु उपसंह्रियन्ते तान् आदिं प्रथमं कृत्वा, पूर्वोक्तानेक-
धर्मप्रभृतयः अन्येऽपि अनेके धर्मा यत्र स तद्वत्त्वं इत्यर्थः।
यथा पूर्वमनेके धर्मा दृष्टान्तरूपेण उक्तः तथैव अन्यानपि

बन्ध और मोक्ष फल के अनुभव की सामर्थ्य होने से, बन्ध
और बन्ध के फल को छोड़कर, मोक्ष और मोक्ष के फल को
स्वीकार करो — यह तात्पर्य है ॥१॥

२. अनेकान्तात्मक पद्धति से पहले कहे हुए आत्मा के अनेक
धर्मात्मकपने का उपसंहार कर, पर के संयोग और वियोग की
अपेक्षा से उत्पन्न होने वाली उसकी तत्त्वव्यवस्था को भी कारण
आदि का उल्लेख करते हुए स्पष्ट करते हैं —

टीकार्थ : — (स्वीकुरुते) आत्मसात करता है। कौन
आत्मसात करता है? (आत्मा) आत्मा आत्मसात करता है/स्वीकार
करता है। वह क्या-क्या स्वीकार करता है? (इत्याद्यनेकधर्मत्वं)
पहले जो अनेकान्तात्मक शैली में कहे गए हैं, अब उनका उपसंहार
करते हैं, उन सबको मुख्य कर स्वीकार करता है। पूर्वोक्त अनेक
धर्म प्रभृति अन्य भी अनेक धर्म जहाँ हैं, वह उन सबको स्वीकार
करता है — ऐसा अर्थ है। जिसप्रकार पहले अनेक धर्म दृष्टान्तरूप
में कहे गए थे; उसीप्रकार अन्य भी अनेक आगम में कहे गए,

अनेकान् आगमोक्तान् युक्त्यनुभवगम्यांश्च धर्मानात्मा स्वी-
करोति । कथमिति चेत्? तत्तत्कारणैः तानि तानि च कारणानि
च तत्तत्कारणानि तत्तद्वस्तूनि अनेक भेद-अभेदसहितैः प्रमाणन-
यनिक्षेपानुयोगैः, उपादाननिमित्तभेदरूपैः करणैः कारणैर्वा ।

पुनः किं स्वीकुरुते? बन्धमोक्षौ बन्धश्चमोक्षश्च बन्धमोक्षौ,
बन्धावस्थां मोक्षावस्थां चात्मसात् करोति । कथं? तत्तत्कारणैः
आस्रवसंवरनिर्जरापूर्वकैः तत्तत्कारणपूर्वकैश्च; साम्प्रायिकेर्या-
पथभेदप्रभेदरूपैः योगस्थानैः, मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाय-
रूपैर्भावस्थानैश्च बन्धकारणैः, गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजय-
चारित्रैः मोक्षोपायभूतैः संवररूपैः, तपोभेदप्रभेदरूपैः निर्जरास्थानैश्च ।

युक्ति और अनुभवगम्य धर्मों को आत्मा स्वीकार करता है। वह
उन्हें कैसे स्वीकार करता है? (तत्तत्कारणैः) उन-उन कारणों
से स्वीकार करता है। उन-उन वस्तुओं को अनेक भेद-अभेद
सहित, प्रमाण-नय-निक्षेप-अनुयोगों द्वारा, उपादान-निमित्त भेद
रूप करण या कारणों से उन्हें स्वीकार करता है।

और वह किसे स्वीकार करता है? (बन्धमोक्षौ) बंध और
मोक्ष — बंध-मोक्ष, बंधावस्था और मोक्षावस्था को स्वीकार
करता है/आत्मसात करता है। वह उन्हें कैसे आत्मसात करता है?
(तत्तत्कारणैः) आस्रव, संवर-निर्जरा पूर्वक और उनके कारण
पूर्वक उन्हें आत्मसात करता है; साम्प्रायिक और ईर्यापथ के
भेद-प्रभेद रूप — योग-स्थानों और मिथ्यादर्शन-अविरति-प्रमाद-
कषाय रूप भाव-स्थानों अर्थात् बंध के कारणों से बंध को
आत्मसात करता है; तथा मोक्ष के उपायभूत, संवररूप गुप्ति-
समिति-धर्म-अनुप्रेक्षा-परिषहजय-चारित्र से और तप के भेद-
प्रभेद रूप निर्जरा-स्थानों से मोक्ष को आत्मसात करता है।

आत्मा पुनः किं स्वीकुरुते? तयोः फलं तयोः बन्धमोक्षयोः जायमानं परिणामवस्थान्तरं इत्यर्थः। कथं? तत्तत्कारणैः अधिगमोपायरूपैरुक्तैः प्रमाणादिभिर्ये गुणधर्मा उक्तास्तैस्तैस्तत्तत्फलं यानि च बन्धकारणानि उक्तानि तैस्तैस्तत्तत्फलं, यानि तु मोक्षकारणानि निर्दिष्टानि तैस्तैस्तु तत्तत्फलमात्मसात् करोति।

अत्र विशेषः — स्वयमेव तु परन्तु स्वाभाव्यात् स्वभावानतिक्रमेणैवेत्यर्थः। एतेन वस्त्वन्तरपरिणामकर्तृत्वमीश्वरकर्तृत्वादिकं च निषिद्धं भवति।

तथाचोक्तम् —

आत्मा और किसे स्वीकार करता है? (तयोः फलं) उन बन्ध और मोक्ष के उत्पन्न होते हुए परिणाम को स्वीकार करता है, अवस्थान्तर/दूसरी अवस्था रूप होता है — यह इसका अर्थ है। वह उन्हें कैसे आत्मसात करता है? (तत्तत्कारणैः) जानने के उपायरूप से कहे गए प्रमाणादि द्वारा जो गुण-धर्म कहे गए हैं, उन-उनसे उन-उनके फल को आत्मसात करता है; अर्थात् जो बन्ध के कारण कहे गए हैं, उनसे उनके फल को और जो मोक्ष के कारण कहे गये हैं, उनसे उनके फल को आत्मसात करता है।

यहाँ विशेष यह है कि (स्वयमेव तु) स्वयं स्वभाव से/स्वभाव का उल्लंघन न करते हुए ही इन सबको आत्मसात करता है, इन रूप परिणमित होता है — ऐसा अर्थ है। इससे परिणामन में दूसरी वस्तुओं के कर्तृत्व का और ईश्वर-कर्तृत्व आदि का निषेध हो जाता है।

वैसा ही कहा भी गया है —

“स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥”

अत्र स्वरूपव्यवस्था, बन्धमोक्षव्यवस्था, तत्फलभोक्तृत्व-
व्यवस्था च प्रदर्शिता। एवं च सप्ततत्त्वस्वरूपं संक्षेपेण प्रति-
पादितम्। कार्यकारणभावेऽपि स्वातन्त्र्यं वस्तुस्वभावानति-
क्रमणेनैव तथा परिणतिर्भवतीति चोक्तम्।

अथवा स्वयमेव तु इति पदस्य फलेनैव सम्बन्धो योज्यः।
आत्मा तयोः फलं तु स्वयमेव भुंक्ते इत्यर्थः। तेन कर्मकर्तृत्वे
स्वातन्त्र्यं तत्फलभोक्तृत्वे तु पारतन्त्र्यमात्मनः इति कथनस्याप-
सिद्धान्तत्वं प्रकटितं भवति ॥९ ॥

“आत्मा स्वयं कर्म करता है, स्वयं उसके फल को भोगता
है, स्वयं संसार में भ्रमण करता है और स्वयं उससे छूटता है ॥”

यहाँ स्वरूप-व्यवस्था, बंध-मोक्ष-व्यवस्था और उसके
फलभोक्तृत्व की व्यवस्था दिखाई गई है।

इसप्रकार सात तत्त्वों का स्वरूप संक्षेप में प्रतिपादित किया।
वस्तुस्वभाव का उल्लंघन नहीं होने के कारण ही, कार्य-कारण
भाव होने पर भी स्वतन्त्र रूप से ही आत्मा उस रूप परिणमित
होता है — ऐसा कहा गया है।

अथवा ‘स्वयमेव तु’ — इस पद का फल के साथ ही
सम्बन्ध जोड़ना चाहिए। आत्मा उन दोनों का फल स्वयं ही
भोगता है — यह इसका अर्थ है। इससे आत्मा की कर्म करने
में स्वतंत्रता; परन्तु उसका फल भोगने में परतंत्रता का प्रतिपादन
करनेवाले कथन के अपसिद्धान्तता प्रगट हुई अर्थात् ऐसा मानना
अनुचित है ॥९ ॥

१. अंतरंगबहिरंगसामग्रीसद्भावात् एव मोक्षो भवतीति कथयति —

कर्ता यः कर्मणां भोक्ता, तत्फलानां स एव तु।
 बहिरन्तरुपायाभ्यां, तेषां मुक्तत्वमेव हि ॥१०॥
 यः कश्चिज्जीवः कर्मणां रागादिकर्मणां कर्ता व्यवहारेण
 यः करोति सः कर्ता। तु पुनः स एव कर्मकर्तैव तत्फलानां
 तत्शुभाशुभरूपकर्मफलानां भोक्ता आस्वादकः। बहिरन्त-
 रुपायाभ्यां अंतरंगबहिरंगहेतुभ्यां त्वमेव सः स त्वमेव तेषां
 कृतकर्मणां मोक्ता विनाशकः इति पातनिकार्थो भावार्थः ॥१०॥

१. अब, अंतरंग-बहिरंग सामग्री के सद्भाव से ही मोक्ष होता है; ऐसा कहते हैं —

जो कर्मों का कर्ता वह ही, उनके फल का भोक्ता भी।
 तो भी अन्तरबाह्य उपायों, से होती मुक्ति उनकी ॥१०॥
श्लोकार्थः : — कर्मों का जो कर्ता है, उनके फलों का भोक्ता भी वह ही है; तथापि बहिरंग और अन्तरंग कारणों से वास्तव में उनकी मुक्तता होती ही है।

टीकार्थः : — (यः) जो कोई जीव (कर्मणां कर्ता) व्यवहार से रागादि भावों का कर्ता है, (तु स एव तत्फलानां भोक्ता) वास्तव में वह कर्मों को करनेवाला ही, उन शुभाशुभरूप कर्मफलों का भोक्ता है/वेदन करनेवाला है। (बहिरन्तरुपायाभ्यां) बहिरंग और अन्तरंग कारणों से (त्वमेव सः) तुम ही वह (तेषां मोक्ता) उन किए हुए कर्मों के मोक्ता/विनाशक हो/उन्हें नष्ट करनेवाले हो — यह भावार्थ है अथवा यह श्लोक आगामी श्लोकों की पातनिका/उत्थानिकापरक है — यह भाव है ॥१०॥

२. उक्तार्थस्य प्रकारान्तरेण समर्थनपूर्वकं मुक्तौ हेतुव्यवस्थां प्ररूपयति —

यः आत्मा कर्मणां ज्ञानावरणादीनां कर्ता बन्धको भवति तत्फलानां अज्ञानादीनां भोक्ता तु अपि स एव न अन्यः; “प्रकृतिस्तु कर्त्री पुरुषस्तु फलभोक्ता” इति सिद्धान्तस्यायुक्तत्वं तु वस्तुस्वरूपविरुद्धत्वात्।

एवं चेत् कथमात्मा मुक्तः स्यात्? कर्मकर्तृत्वतत्फल-भोक्तृत्वयोरनादिपरम्परावदनन्तत्वस्यापि प्रसक्तेः कर्मचेतनायाः कर्मफलचेतनायाश्च भिन्नानामुपायान्तराणामभावात् च। इत्यत आह हि यतः स एव आत्मा तेषां कर्मणां — द्रव्यकर्मभाव-कर्मनोकर्मणां तत्कर्तृत्वस्य, तत्फलानां — मोहरागद्वेषाज्ञानादीनां

२. उक्त अर्थ का दूसरे रूप में समर्थन करते हुए मुक्ति (के सन्दर्भ) में कारणों की व्यवस्था का निरूपण करते हैं —

टीकार्थ : — (यः) जो आत्मा (कर्मणां) ज्ञानावरणादि कर्मों का (कर्ता) बन्ध करता है, (तत्फलानां) उनके फल अज्ञानादि का (भोक्ता तु) भोगता भी (स एव) वह ही है, कोई दूसरा नहीं है, इससे “प्रकृति कर्म करती है और पुरुष उसके फल को भोगता है” (सांख्य-मान्यता) — यह सिद्धान्त वस्तु-स्वरूप के विरुद्ध होने से अनुचित है; यह सिद्ध हुआ।

यदि ऐसा है तो आत्मा मुक्त कैसे होगा? कर्मों के कर्तृत्व और उसके फल के भोक्तृत्व की अनादि परम्परा के समान अनन्तता का भी प्रसंग होने से तथा कर्म-चेतना और कर्मफल-चेतना से भिन्न किसी दूसरे उपाय का अभाव होने से कर्मों से मुक्ति कैसे संभव है? इसके लिए कहते हैं — (हि) क्योंकि वह ही आत्मा (तेषां) उन कर्मों की — द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म की — इनकी कर्तृता की

तत्फलभोक्तृत्वविपाकाशयसम्बन्धस्य चेत्येतेषां मुक्तत्वमपि लभते इति शेषः। कथमिति चेत्? बहिरन्तरुपायाभ्यां बहिश्चान्तश्च बहिरन्तः तौ च तौ उपायौ चेति ताभ्याम्। बहिरन्तरुपाययोर्ज्ञानरूपत्वेन कर्मचेतनाकर्मफलचेतनाया विलक्षणत्वात् निश्चयेनैताभ्यामुपायाभ्यामात्मा मुक्तत्वं शुद्धानन्तज्ञानानन्दस्वभावं लभते एवेति तात्पर्यम् ॥१०॥

और उनके फलों की — मोह, राग, द्वेष, अज्ञान आदि की — उनके फल-भोक्तृत्वरूप विपाक आशय सम्बन्ध की — इन सबकी मुक्तता को भी प्राप्त करता है, यहाँ 'प्राप्त करता है' — यह शेष है (श्लोक में नहीं है; अतः प्रसंगवश ऊपर से लगा लेना) (क्योंकि वही आत्मा, उन द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म का कर्ता है, उनके फल मोह, राग, द्वेष, अज्ञान आदि का भोक्ता है; अतः इनसे मुक्त भी हो जाता है)। उनसे आत्मा की मुक्ति कैसे होती है? (बहिरन्तरुपायाभ्यां) बाह्य और अन्तर बाह्यान्तर, वे दोनों और वे उपाय — बाह्यान्तर उपाय, उनके द्वारा, बाह्यान्तर उपायों द्वारा (क्रमशः द्वन्द्व समास, कर्मधारय समास और तृतीया तत्पुरुष समास द्वारा विश्लेषण किया गया है) उनसे आत्मा की मुक्ति होती है। बाह्यान्तर उपायों के ज्ञानरूपता होने से तथा व र्म-चेतना, कर्मफल-चेतना से इनका विरुद्धलक्षण होने से, निश्चय से इन उपायों द्वारा आत्मा (मुक्तत्वं) शुद्ध, अनन्त, ज्ञानानन्द-स्वभावरूप मुक्तता को प्राप्त करता है — ऐसा तात्पर्य है (बाह्यान्तर उपाय स्वयं ज्ञानस्वभावी आत्मा के आश्रय से प्रगट होने के कारण ज्ञानमय हैं; ज्ञानमय होने से आकुलतामय या आकुलता के कारण नहीं हैं; वीतरागमय होने के कारण इनसे बंध नहीं होता; अतः आत्मा मुक्त हो जाता है। जबकि कर्म-चेतना और कर्मफल-चेतना पराश्रित, आकुलतामय और बंधनकारक हैं; अतः इनके माध्यम से आत्मा मुक्त नहीं होता है) ॥१०॥

१. मुक्ति हेतुमाह —

सद्दृष्टिज्ञानचारित्रमुपायः स्वात्मलब्धये ।

तत्त्वे याथात्म्यसंस्थित्यमात्मनो दर्शनं मतम् ॥११॥

सद्दृष्टिज्ञानचारित्रं सम्यग्दर्शनावबोधचारित्रं स्वात्मलब्धये
आत्मस्वरूपप्राप्तये उपायः मुख्यकारणं भवति । तत्र दर्शनं किं
रूपामित्युक्ते प्राह-तत्त्वे शुद्धात्मतत्त्वे याथात्म्यसौस्थित्यं अविच-
लितरुचिः आत्मनो जीवस्य दर्शनं सम्यग्दर्शनं मतं सम्मतं;
निजशुद्धात्मतत्त्वे रुचिः सम्यग्दर्शनमिति तात्पर्यम् ॥११॥

१. मुक्ति के कारणों को कहते हैं —

स्वात्मलब्धि का है उपाय, सम्यग्दर्शन सत ज्ञान चरण ।

हो संस्थिति याथात्म्य तत्त्व में, यही आत्मा का दर्शन ॥११॥

श्लोकार्थ : — अपने आत्मा को प्राप्त करने का उपाय
सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है । (अपने आत्म) तत्त्व में
याथात्म्य संस्थिति आत्मा का दर्शन/सम्यग्दर्शन माना गया है ।

टीकार्थ : — (सद्दृष्टिज्ञानचारित्रं) सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-
सम्यक्चारित्र (स्वात्मलब्धये) आत्मस्वरूप की प्राप्ति का
(उपायः) मुख्य कारण है । वहाँ दर्शन का क्या स्वरूप है? ऐसा
प्रश्न होने पर कहते हैं — (तत्त्वे) शुद्धात्मतत्त्व में (याथात्म्य-
सौस्थित्यं) अविचलित रुचि (आत्मनो) जीव का (दर्शनं)
सम्यग्दर्शन (मतं) माना गया है; निजशुद्धात्मतत्त्व में रुचि
सम्यग्दर्शन है — यह तात्पर्य है ॥११॥

नोट — द्वितीया टीका में ११ से १४ पर्यन्त श्लोकों की
युगपत् टीका है, अतः उसे १४ वें श्लोक के बाद दिया है ।

१. सम्यग्ज्ञानस्वरूपमाह —

यथावद्वस्तुनिर्णीतिः, सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत् ।

तत्स्वार्थव्यवसायात्मा, कथंचित् प्रमितेः पृथक् ॥१२ ॥

यथावद्वस्तुनिर्णीतिः स्वरूपानतिक्रमवस्तु परिच्छिन्तिः सम्यग्ज्ञानं भवति । तत् सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत् विशदप्रदीपो यथा स्वार्थव्यवसायात्मा स्वपरप्रकाशरूपः तथा ज्ञानमपि । प्रमितेः ज्ञानव्यापारात् तत्सकलं ज्ञानं कथंचित् केनापि कारणेन पृथक् भिन्नं; प्रमाणं स्वकीयफलरूपप्रमितेः सर्वथा भिन्नं न भवतीति तात्पर्यम् ॥१२ ॥

१. सम्यग्ज्ञान का स्वरूप कहते हैं —

वस्तु के वास्तविक रूप का, निर्णय सम्यग्ज्ञान कहा ।

है प्रदीपवत् निर्णायक वह, स्व-पर सर्व वस्तुओं का ॥

ज्ञान का सुफल है जो प्रमिति, उसे कथंचित् भिन्न कहा ।

तथा ज्ञान से अभिन्न भी वह, यही अपेक्षावाद अहा ॥१२ ॥

श्लोकार्थः — वस्तु के वास्तविक स्वरूप का निर्णय करना सम्यग्ज्ञान है । वह दीपक के समान अपना और परपदार्थों का निर्णय करता है तथा वह प्रमिति अर्थात् जानकारी से कथंचित् भिन्न है ।

टीकार्थः — (यथावद्वस्तुनिर्णीतिः) स्वरूप का उल्लंघन नहीं करके अर्थात् पूर्णस्वरूप सम्पन्न वस्तु को जानना सम्यग्ज्ञान है । (तत् सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत्) जैसे दैदीप्यमान दीपक स्व-पर पदार्थों को प्रकाशित करता है; उसीप्रकार वह सम्यग्ज्ञान (स्वार्थ-व्यवसायात्मा) स्व-पर पदार्थों का निर्णय करता है । (प्रमितेः) ज्ञान के व्यापार/ज्ञप्ति/जानकारी से वह सम्पूर्ण ज्ञान (कथंचित्) किसी अपेक्षा (पृथक्) भिन्न है; प्रमाण ज्ञान अपनी फलस्वरूप प्रमिति/जानकारी से सर्वथा भिन्न नहीं है — यह तात्पर्य है ॥१२ ॥

१. पुनरपि चारित्रस्वरूपं श्लोकद्वयेन प्रतिपादयन्नाह —
 दर्शन- ज्ञान- पर्याये- शूत्रोत्तर- भाविषु।
 स्थिरमालम्बनं यद्वा, माध्यस्थ्यं सुखदुःखयोः ॥१३॥
 ज्ञातादृष्टाहमेकोऽहं, सुखे दुःखे न चापरः।
 इतीदं भावनादाद्दर्यं, चारित्रमथवा परम् ॥१४॥
 उत्तरोत्तरभाविषु अपरापरोत्पद्यमानेषु दर्शनज्ञानपर्यायेषु
 सम्यग्दर्शनज्ञानपर्यायेष्वधिकरणभूतेषु स्थिरं अविचलं आलम्बनं

१. अब, चारित्र के स्वरूप का दो श्लोकों द्वारा प्रतिपादन करते हुए कहते हैं —

होती हुई ज्ञान-दर्शन, पर्यायों में स्थिर होना।

या उनका आलम्बन, या सुख-दुख में समभावी होना ॥१३॥

मात्र सदा मैं ज्ञाता-दृष्टा, सुख-दुख में भी एक सदा।

नहीं दूसरा कोई मेरा, मैं हूँ नित निरपेक्ष महा ॥

इसप्रकार की आत्मभावनामय दृढ़ता चारित्र कहा।

अथवा परम स्वरूपलीनता है सम्यक्चारित्र कहा ॥१४॥

श्लोकार्थ : — जो (अपनी) क्रम-क्रम से होती हुई ज्ञान-दर्शन पर्यायों में स्थिरता रूप आलम्बन है, वह सम्यक्चारित्र है। अथवा (सांसारिक) सुख-दुःख में माध्यस्थ्य रहना सम्यक्चारित्र है।

अथवा मैं एक ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी हूँ, सुख-दुःख में भी मैं एक हूँ, कोई दूसरा मेरा नहीं है — इत्यादि अनेकप्रकार से (शुद्धात्म-स्वरूप में लीनतारूप) भावना की दृढ़ता परमचारित्र है।

टीकार्थ : — (उत्तरोत्तरभाविषु) आगे-आगे दूसरी-दूसरी उत्पन्न होती हुई (दर्शनज्ञानपर्यायेषु) आधारभूत दर्शन-ज्ञानपर्यायों में (स्थिरं) अविचल रहना (आलम्बनं) उनका आलम्बन लेना/

आश्रयणं चारित्रं चरणं भवति। यद्वा अथवा सुखदुःखयोः सतोर्विषयभूतयोर्वा माध्यस्थ्यं उदासीनता चारित्रं स्यात्।

॥ ज्ञाता ज्ञायकः दृष्टा दर्शी अहं अहमेव एक अद्वितीयः, सुखे दुःखे सुखदुःखानुभवने अहमेव एक असहायः, अपरं अन्य सहायं न च नास्ति; इति एवं इदं एतत् भावनादाढ्यं भावना दृढत्वं अथवा परं यथा चारित्रं चरणं मतं सम्मतम्।

एतत् निजभावनारूपचारित्रं मुख्यं मुक्तिकारणं भवतीति तात्पर्यम् ॥१३-१४॥

२. कौ तौ बहिरन्तरुपायौ? इति प्रश्ने अन्तरुपायस्य प्राधान्यात्

आश्रय लेना (चारित्रं) चरण है। (यद्वा) अथवा (सुखदुःखयोः) विद्यमान, इष्टानिष्ट लगनेवाले इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों में (माध्यस्थ्यं) उदासीनता चारित्र है।

(ज्ञाता) जाननेवाला (दृष्टा) देखनेवाला (अहं) मैं ही (एकः) अद्वितीय पदार्थ हूँ, (सुख-दुःख) सुख-दुःख के अनुभव में (अहं) मैं एक ही असहाय (सहायता की आवश्यकता से रहित पूर्ण सामर्थ्यशाली) हूँ, (अपरं) दूसरा कोई सहायक (न च) नहीं है (सहायक होना शक्य ही नहीं है तथा पूर्ण शक्तिसम्पन्न होने से मुझे सहायक की आवश्यकता/अपेक्षा भी नहीं है।); (इति) इसप्रकार (इदं) यह (भावनादाढ्यं) भावना की दृढता (अथवा परं) अथवा जैसा अन्य (चारित्रं) चारित्र (जिनागम में) स्वीकार किया गया है — वह चारित्र है।

यह निजभावना (स्वशुद्धात्मतत्त्व रूप परिणमनमय) चारित्र मुक्ति का मुख्य कारण है — ऐसा तात्पर्य है ॥१३-१४॥

२. वे अंतरंग और बहिरंग उपाय क्या हैं? ऐसा प्रश्न होने पर

प्रथमं तमेव कलापकेन निर्दिशति —

उपायः हेतुरस्ति। कस्यै? स्वात्मलब्धये स्वस्य आत्मनः स्वरूपं, तस्य लब्धिः प्राप्तिः, तस्यै निजस्वरूपसिद्धये। अथवा सु-सुष्ठु आत्मा स्वात्मा-शुद्धपरमात्मदशापन्न आत्मा, तल्लब्धये-परमात्मत्वसिद्धये। किं तत्? सददृष्टिज्ञानचारित्रं दृष्टिश्च ज्ञानं च चारित्रं च तेषां समाहारः, सच्च तत् दृष्टिज्ञानचारित्रं च सददृष्टिज्ञानचारित्रं, सच्छब्दस्य त्रिषु सम्बन्धो बोध्यः। तेन नैकस्य द्वयोर्वा उपायत्वमित्युक्तं भवति समाहारैकत्ववचनात्; न त्रयाणामपि पृथक्-पृथक् उपायत्वमित्यपि बोध्यम्। तेन

अंतरंग उपाय की प्रधानता होने से सर्वप्रथम उसे ही (चार श्लोकों के) समूह द्वारा स्पष्ट करते हैं —

टीकार्थः — (उपायः) हेतु हैं। किसके हेतु हैं? (स्वात्म-लब्धये) अपने आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति के हेतु हैं/निज स्वरूपसिद्धि के हेतु हैं। अथवा सु+आत्मा = स्वात्मा, सु-सुष्ठु-शुद्ध परमात्मदशा को प्राप्त आत्मा, उसकी प्राप्ति के अर्थात् परमात्मत्व की सिद्धि के हेतु हैं। वे क्या हैं? (सददृष्टिज्ञानचारित्रं) दर्शन और ज्ञान और चारित्र, उनका समूह — दर्शन-ज्ञान-चारित्र, सत् और वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र — सददर्शनज्ञानचारित्र — इसप्रकार 'सत्' शब्द का सम्बन्ध तीनों के साथ जानना चाहिए (समाहार द्वन्द्व समास और कर्मधारय समास के माध्यम से विश्लेषण किया है)। इस समाहार द्वन्द्वसमास में एकत्व का वाची एक वचन होने से, इसके द्वारा एक अथवा दो के हेतुपना नहीं है — यह कहा गया है; पृथक्-पृथक् तीनों के भी हेतुपना नहीं है — यह भी इससे जान लेना चाहिए। इससे मुक्ति के लिए सात प्रकार के मिथ्या उपायों के

मुक्तेर्मिथोपायानां सप्तविधत्वं तत्परिहार्यत्वं च प्रतिपादितम्।

त्रयाणामपि क्रमेण लक्षणं कथयति —

मतं सम्मतं आचार्याणामिति शेषः। किं तत्? दर्शनं
सद्दृष्टिः सम्यग्दर्शनं, सिद्धत्वोपायेषु प्रथमत्वेन निर्दिष्टो हेतुः
सम्यक्त्वमिति यावत्। किं भूतं? याथात्म्यसंस्थित्यं यथात्मा, तस्य
भावः याथात्म्यं, तत्र संस्थित्यं - सम्यक्तया अवस्थानम्। कस्य?
आत्मनः। क्व? तत्त्वे तस्य भावस्तत्त्वं तत्र; योऽर्थो यथावस्थितः
तथा तस्य भवने; भावेन भाववतोऽप्यभिधानात् अर्थे च।
यतः श्रद्धा रुचिः प्रतीतिरेवमादयः समानार्थाः; जीवाजीवा-

निराकरण का भी प्रतिपादन हो गया।

अब क्रम से इन तीनों के लक्षण कहते हैं —

(मतं) सम्मत है, मन्तव्य है आचार्यों का — यह शेष है
(प्रसंगवश ऊपर से ले लेना)। आचार्यों को वह क्या सम्मत है?
(दर्शनं) सद्दृष्टि/सम्यग्दर्शन, सिद्धत्व के उपायों में सर्वप्रथम रूप
से (मुख्यतया) कहा गया हेतु सम्यक्त्व है — यह सम्मत है। उस
सम्यग्दर्शन का क्या स्वरूप है? (याथात्म्यसंस्थित्यं) आत्मा
(स्वरूप) जैसा है, उसका (यथार्थ) भाव याथात्म्य है, उसमें
संस्थिति/सम्यक् रूप से अवस्थान सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन
किसका है? (आत्मनः) वह आत्मा का है। कहाँ संस्थिति
सम्यग्दर्शन है? (तत्त्वे) उसका भाव तत्त्व है, उसमें संस्थिति
सम्यग्दर्शन है; जो पदार्थ जिस स्वभाव में अवस्थित है, उसका वैसा
ही भवन/होना तत्त्व है; यहाँ भाव द्वारा भाववान का भी कथन होने
से अर्थ में संस्थिति सम्यग्दर्शन है। क्योंकि श्रद्धा, रुचि, प्रतीति इत्यादि
समान (एक) अर्थवाची हैं; अतः जीवाजीवादि सात प्रकार के तत्त्व

द्यात्मकस्य सप्तविधतत्त्वस्य सर्वज्ञेन यथास्वरूपं निर्दिष्टं तथैव
 “इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यत्र चान्यथा” इत्याकारेण श्रद्दधनं
 रोचनं प्रत्ययनं वा सम्यग्दर्शनम्। यद्वा आत्मनो ज्ञानिनो जीवस्य
 तत्त्वे जिनोक्तनिजशुद्धस्वरूपे याथात्म्यसंस्थित्यं सम्यग्दर्शनं
 मतं निश्चयेनेति भावः।

किं सम्यग्ज्ञानं? तत् सम्यग्ज्ञानं मतम्। किं? यः यथावद्-
 वस्तुनिर्णीतिः यथावत् अव्यभिचारितया संशयादिराहित्येन वा
 वस्तुनः सतः प्रमेयमात्रस्य वा निर्णीतिः निश्चयः परिच्छेदोऽव-
 बोधः इत्यर्थः। कथंभूतं तत्सम्यग्ज्ञानं? स्वार्थव्यवसायात्मा स्व-
 श्चार्थश्च स्वार्थौ तयोः व्यवसायः निश्चयः स एव आत्मा स्वरूपं

का स्वरूप जैसा सर्वज्ञ द्वारा कहा गया है, वैसा ही “तत्त्व यह
 ही है, ऐसा ही है, अन्य नहीं है, अन्यथा नहीं है” — इस रूप
 में श्रद्दधन, रोचन या प्रत्ययन सम्यग्दर्शन है। अथवा आत्मज्ञानी
 जीव की जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गए निज शुद्ध स्वरूप तत्त्व
 में याथात्म्यसंस्थिति निश्चय से सम्यग्दर्शन माना गया है — यह
 भाव है।

सम्यग्ज्ञान क्या है? (तत् सम्यग्ज्ञानं) उसे सम्यग्ज्ञान माना
 गया है। वह क्या है? जो (यथावद्वस्तुनिर्णीतिः) यथावत् व्यभिचार
 रहित या संशय आदि दोषों से रहित विद्यमान वस्तु का या
 प्रमेयमात्र का निर्णय है, निश्चय है, परिच्छेद या अवबोध है, वह
 सम्यग्ज्ञान है — ऐसा अर्थ है। वह सम्यग्ज्ञान कैसा है? (स्वार्थ-
 व्यवसायात्म) स्व और अर्थ-स्वार्थ, उन दोनों का व्यवसाय/
 निश्चय/निर्णय स्वार्थव्यवसाय है, वह ही है आत्मा/स्वरूप जिसका,
 वह स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान है (क्रमशः द्वन्द्व, तत्पुरुष और
 बहुब्रीहि समास द्वारा विश्लेषण किया है)।

यस्य तत्। तद्धि न केवलं स्वमेव अर्थमेव वा परिच्छिनत्ति इति बोधनफलं विशेषणं; अन्यथा न्यायशास्त्रोक्तानेकदोषप्रसंगः।

ननु एकमेव ज्ञानं कथं स्वं परं अर्थं च परिच्छिनत्ति? अतः दृष्टान्तेन समर्थयते — प्रदीपवत् यथा प्रदीपः स्वं परमर्थं च प्रदीपयति, न तत्र कारणान्तरं मृग्यं, तद्वत्।

ननु परिच्छेदात्मकं प्रमाणरूपं सम्यग्ज्ञानं करणं, निर्णीतिस्तु भावसाधनरूपा फलभूता कथमुभयोः सामानाधिकरण्यम्? एकत्वे तु फलात्मकत्वं ज्ञानेन पृथक् कथं भाव्यम्? अत

इससे वह ज्ञान न मात्र स्व को ही जानता है और न मात्र पर-पदार्थ को ही; अपितु दोनों को ही जानता है — इसप्रकार का बोधनफल/जानकारी उसका विशेषण है — इस तथ्य को स्वीकार न करने पर न्यायशास्त्र में वर्णित अनेक दोषों का प्रसंग आता है।

यहाँ प्रश्न है कि एक ही ज्ञान स्व और पर पदार्थ को कैसे जानता है? इसका उत्तर देते हुए दृष्टान्त द्वारा उसका समर्थन करते हैं- (प्रदीपवत्) जैसे प्रदीप स्व और पर पदार्थ को प्रदीप्त करता है; दोनों को प्रदीप्त/प्रकाशित करने के लिए वहाँ दूसरा कारण नहीं खोजना पड़ता है; उसीप्रकार एक ही ज्ञान स्व और पर पदार्थ को जान लेता है।

यहाँ प्रश्न है कि परिच्छेदात्मक प्रमाणरूप सम्यग्ज्ञान तो करण है तथा उसके फलभूत निर्णय तो भावसाधन रूप है, इन दोनों का सामान्याधिकरण्य/एक ही आधार कैसे हो सकता है? तथा दोनों के एकत्व होने पर फलात्मकता (जानकारी) को ज्ञान (जानने वाले) से पृथक् कैसे किया जा सकता है? इनका उत्तर देते हुए कहते हैं — वह सम्यग्ज्ञान (प्रमितेः) फलभूत अज्ञान की निवृत्ति

आह — तत् सम्यग्ज्ञानं प्रमितेः फलभूतायाः अज्ञाननिवृत्त्यात्मिकायाः ज्ञप्तेः कथंचित् पृथक् ।

किं चारित्रमत आह — चारित्रं भवति । किं? स्थिरमालम्बनं स्वविषयेभ्यो योगस्याप्रच्यवनम् । केषु? दर्शनज्ञानपर्यायेषु सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानपरिणामनेषु । कथंभूतेषु? उत्तरोत्तरभाविषु क्रमशो यथोत्तरमुत्पत्स्यमानेषु, उद्योतनोद्यवननिर्वहणसाधन-निस्तरणरूपपरिणामेषु अथवा उपशमनक्षपणविधानगतेषु सम्यग्दर्शनपर्यायेषु, यद्वा आज्ञामार्गादिदशविधसम्यक्त्वेषु तथैवोद्यतादिप्रकारेषु, धर्म्यध्यानशुक्लध्यानगतश्रुतविकल्पात्मकज्ञानपर्यायेषु च इन्द्रियानिन्द्रियबाह्यविषयव्यावर्तनपूर्वकमैका-

स्वरूप ज्ञप्ति (जानकारी) से (कथंचित् पृथक्) किसी अपेक्षा (कारकों की दृष्टि से) पृथक् है ।

चारित्र क्या है? इसका उत्तर देते हैं — (चारित्रं) चारित्र है । वह क्या है? (स्थिरमालम्बनं) स्थिर आलम्बन, अपने विषयों से योग का च्युत नहीं होना चारित्र है । किनमें से च्युत नहीं होना चारित्र है? (दर्शनज्ञानपर्यायेषु) सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान पर्यायों में से च्युत नहीं होना चारित्र है । किसप्रकार की पर्यायों में स्थिरता चारित्र है? (उत्तरोत्तरभाविषु) क्रमशः आगे-आगे उत्पन्न होती हुई सम्यग्दर्शन-ज्ञान पर्यायों में स्थिरता चारित्र है; उद्योतन, उद्यवन, निर्वहण, साधन, निस्तरण रूप पर्यायों में अथवा उपशमन-क्षपण विधानगत (औपशमिक-क्षायिक) सम्यग्दर्शन पर्यायों में, आज्ञामार्ग आदि दशप्रकार के सम्यक्त्वों में, उसीप्रकार उद्यत आदि प्रकारों में तथा धर्म्यध्यान-शुक्लध्यान सम्बन्धी श्रुतविकल्पात्मक ज्ञान पर्यायों में इन्द्रियों और मन सम्बन्धी बाह्य विषयों से निवृत्ति

ग्रयं तत् चारित्रमित्यर्थः ।

यद्वापरमपि चारित्रं भवति । किं तत्? सुखदुःखयोः माध्यस्थ्यं मोहोदयसहचरितसातासातवेदनीयोदयजन्येष्टानिष्ट-विकल्पयोः माध्यस्थ्यं रागद्वेषाभावः साम्यावस्थानम् ।

अथवा चारित्रस्यापरमपि लक्षणं भवति, तृतीयमपि प्रकारं भवतीत्यर्थः । किं तत्? भावनादाढ्यं भावनायाः निर्वर्तना-परिणतेः अभीष्टविषयपरिणामनप्रयोजकत्वसंपृक्तपरिणतेः दाढ्यं दृढत्वम् । तत् कथंभूतं भवतीति 'इतीदं' शब्देन स्पष्टीकरोति । तथाहि —

सुखे पातोदयजनितपरिणामे, दुःखे असातवेदनीयोदय-

पूर्वक एकाग्रतः, वह चारित्र है — ऐसा अर्थ है ।

अथवा और दूसरा भी चारित्र है । वह क्या है? (सुखदुःखयोः माध्यस्थ्यं) मोह के उदय के साथ साता-असाता वेदनीय के उदय में उत्पन्न इष्ट-अनिष्ट विकल्पों में मध्यस्थता, राग-द्वेष का अभाव, साम्यरूप स्थिरता चारित्र है ।

अथवा चारित्र का और भी लक्षण है, तीसरा भी प्रकार है- ऐसा अर्थ है । वह तीसरा प्रकार कौन सा है? (भावनादाढ्यं) भावना की निर्वर्तना/स्थिरता रूप परिणति से अभीष्ट विषयरूप परिणामन के प्रति प्रयोजकता रूप से संलग्न परिणति की दृढ़ता चारित्र है । वह किस रूप में होती है? इसके उत्तर में (इतीदं) इसप्रकार यह — शब्द द्वारा स्पष्ट करते हैं । वह इसप्रकार —

(सुखे) सातावेदनीय के उदय में उत्पन्न परिणाम रूप सुख में (दुःखे) और असातावेदनीय के उदय में उत्पन्न परिणाम रूप दुःख में (अहमेकः) में एक अद्वितीय मात्र (ज्ञाता दृष्टा)

सम्भूतपरिणामे अहमेकः अद्वितीयः केवलं ज्ञाता दृष्टा उपयोग-
स्वभावत्वान्मम एतयोः सुखदुःखपरिणामयोस्तु तद्विरुद्धत्वात्
केवलमहमेनयोः ज्ञाता द्रष्टैव भवामि। अहमेतयोरपरः कर्तादि-
कारकरूपो न भवामि, निश्चयेन द्रव्यभावस्वभावविभाव-
नादित्यर्थः ॥११-१२-१३-१४॥

ज्ञाता-दृष्टा हूँ। मैं मात्र उपयोगस्वभावी होने के कारण तथा इन
सुख-दुःख परिणामों से मेरी विरुद्धता/भिन्नता होने के कारण मैं
इनका मात्र ज्ञाता-दृष्टा हूँ। निश्चय से द्रव्य के भाव का स्वभाव
रूप से ही विशिष्ट परिणमन होने के कारण या प्रगट होने के
कारण/प्रकाशित होने के कारण, मैं मात्र ज्ञाता-दृष्टा के अतिरिक्त,
उनके कर्ता आदि कारकरूप नहीं हूँ — यह अर्थ है ॥ ११-१२-
१३-१४॥

परमानन्द प्राप्ति का उपाय

यः परात्मा स एवाहं, योऽहं स परमस्ततः।

अहमेव मयोपास्यो, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥३१॥

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं, मां मयैव मयि स्थितम्।

बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि, परमानन्दनिर्वृतम् ॥३२॥

जो उत्कृष्ट आत्मा है, वह ही मैं हूँ, जो मैं हूँ, वह ही उत्कृष्ट
आत्मा है; अतः यह निश्चित हुआ कि मैं ही मेरे द्वारा उपास्य
हूँ; मेरे लिए कोई अन्य उपास्य नहीं है।

पंचेन्द्रिय विषय-भोगों से स्वयं को छुड़ाकर मैं ही मेरे द्वारा
स्वयं में स्थित परमानन्द से परिपूर्ण, ज्ञानमय आत्मा को प्राप्त
होता हूँ।

- समाधितंत्र, आचार्य पूज्यपादस्वामी

१. बहिरंगकारणं निरूपयन्नाह —

तदेतन्मूलहेतोः स्यात्कारणं सहकारकम् ।

यद्बाह्यं देशकालादि, तपश्च बहिरंगकम् ॥ १५ ॥

मूलहेतोः रत्नत्रयरूपमुख्यकारणस्य यदेतत् यदिदं देश-
कालादि कर्मक्षपणयोग्यदेशकालं संहननादिकं सहकारकं
सहकारिरूपं, तत् तद्देशकालादि बाह्यं बहिरंगकं कारणं
मोक्षकारणं स्यात् भवेत् । न केवलं देशकालादि तपश्च
अनशनादितपश्चरणं च बहिरंगकं बाह्यं मुक्तिकारणं स्यात् ।
भूतार्थरत्नत्रयं बहिरंगसहकारिकारणं संयुक्तं मोक्षकारणं भवतीति
तात्पर्यम् ॥ १५ ॥

१. बहिरंग कारणों का निरूपण करते हुए कहते हैं —

उन इन मूल कारणों के जो, भिन्न बाह्य सहकारक हैं ।

देश काल आदि तप आदि, उन्हें कहा उपकारक हैं ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ : — उन इन मूल (अंतरंग) कारणों के जो बाह्य
देश-काल आदि, तपश्चरण आदि सहकारी कारण हैं, वे बहिरंगकारण
कहलाते हैं ।

टीकार्थ : — (मूलहेतोः) रत्नत्रयरूप मुख्यकारण का
(यदेतत्) जो यह (देशकालादि) कर्म के क्षय होने में अनुकूल
निमित्तभूत देश, काल, संहनन आदि (सहकारकं) सहकारीरूप
सामग्री है, (तत्) वह देश, काल आदि (बाह्यं कारणं) मोक्ष
के बहिरंग कारण (स्यात्) हैं । मात्र देश, काल आदि ही नहीं,
अपितु (तपश्च) अनशन आदि तपश्चरण भी (बहिरंगकं)
मुक्ति के बाह्य सहकारी कारण हैं ।

बहिरंग सहकारी संयुक्त भूतार्थ रत्नत्रय (पंचसमवाय) मोक्ष
के कारण हैं — यह तात्पर्य है ॥ १५ ॥

२. एवं च कर्मणां संवरनिर्जरापूर्वकमात्मनः निजशुद्ध-
स्वरूपोपलब्धेः सददृष्टिज्ञानचारित्रं अंतरंग उपायः, आत्मस्वभा-
वत्वात्। को वा बहिरंग उपाय इत्यत आह —

एतन्मूलहेतोः एतस्य उपर्युक्तस्य रत्नत्रयात्मकस्य मूलहेतोः
स्वात्मोपलब्धेरन्तरंगोपायत्वात्प्रधानसाधनभूतस्य यत् बाह्यं देश-
कालादितपश्च सहकारकं कारणं स्यात्; तत् बहिरंगकं
स्वोपलब्धेः बहिरंग उपायः साधनसाधनत्वात् परावलम्बन-
रूपत्वाच्च ॥१५ ॥

२. इसप्रकार आत्मस्वभावमय होने के कारण सम्यग्दर्शन-
ज्ञान-चारित्र, आत्मा को, कर्मों के संवर-निर्जरा पूर्वक निजशुद्धस्वरूप
की उपलब्धि के अंतरंग कारण हैं। तब फिर बहिरंग उपाय/कारण
क्या है? इसके लिए कहते हैं —

टीकार्थ : — (एतन्मूलहेतोः) स्वात्मोपलब्धि का अंतरंग
उपाय होने से प्रधान साधनभूत इस उपर्युक्त रत्नत्रयात्मक मूल
हेतु के (यत् बाह्यं देशकालादितपश्च सहकारकं कारणं स्यात्)
जो बाह्य देश-काल आदि और तपश्चरण सहकारी कारण हैं,
(तत् बहिरंगकं) वे साधन के साधनरूप होने से और परावलम्बन
रूप होने से स्वोपलब्धि के बहिरंग उपाय हैं ॥१५ ॥

सुहेण भाविदं णाणं, दुहे जादे विणस्सदि ।

तम्हा जहाबलं जोई, अप्पा दुक्खेहि भावए ॥६२ ॥

सुख से/लौकिक अनुकूलताओं में भाया गया ज्ञान दुःख/
लौकिक प्रतिकूलताएँ आने पर नष्ट हो जाता है; अतः हे योगी
यथाशक्ति प्रतिकूलताएँ उपस्थित कर आत्मा की भावना करो।

— मोक्षपाहुड़, आचार्य कुन्दकुन्ददेव

१. एवमनेकान्तरूपेण हेयोपादेयस्वरूपं परिज्ञाय निज-परमात्मतत्त्वं सेव्यं चेति निरूपयन्नाह —

इतीदं सर्वमालोच्य, सौस्थ्ये दौःस्थ्ये च शक्तितः ।

आत्मानं भावयेन्नित्यं, रागद्वेषविवर्जितम् ॥१६ ॥

इतीदं कथितात्मस्वरूपं सर्वं समस्तं आलोच्य सम्यग्ज्ञात्वा सौस्थ्ये सुखे दौःस्थ्ये दुःखे च सति शक्तितः आत्मशक्त्या रागद्वेषविवर्जितमात्मानं रागद्वेषादिरहितं निजशुद्धबुद्धचिदानन्दमयं टंकोत्कीर्णज्ञायकलक्षणात्मपदार्थं नित्यं सर्वदा भावयेत् चिन्तयेत् । अत्र पातनिकैव तात्पर्यम् ॥१६ ॥

१. इसप्रकार अनेकान्त रूप से (स्याद्वाद शैली द्वारा) हेयोपादेय का स्वरूप जानकर निज-परमात्म-तत्त्व का सेवन करना चाहिए, ऐसा निरूपण करते हुए कहते हैं —

इसप्रकार सब कर विचार, अविरुद्ध-विरुद्ध प्रसंगों में ।

आत्मशक्ति से सतत भावना, करो विरागी आत्म में ॥१६ ॥

श्लोकार्थ :— इसप्रकार सब ओर से सर्वांगीण वस्तु का विचार कर अनुकूल और प्रतिकूल-सभी प्रसंगों में यथाशक्ति सदा राग-द्वेष से रहित आत्मा की भावना करना चाहिए ।

टीकार्थ :— (इतीदं) इसप्रकार इस कहे गए आत्मस्वरूप को (सर्व) पूर्णतया (आलोच्य) सम्यक् रीति से जानकर (सौस्थ्ये) सुख/अनुकूलता (दौःस्थ्ये) दुःख/प्रतिकूलता का प्रसंग (च) होने पर भी (शक्तितः) आत्मशक्ति द्वारा (रागद्वेष-विवर्जितमात्मानं) रागद्वेषादि से रहित निज-शुद्ध-बुद्ध-चिदानन्दमय टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावी आत्मपदार्थ को (नित्यं) हमेशा (भावयेत्) भाना चाहिए, उसका चिन्तन-मनन करना चाहिए ।

यहाँ यह श्लोक (आगामी श्लोकों की) पातनिका रूप ही

२. तत्त्वस्वरूपसम्बोधनानन्तरं किं कर्तव्यं तदाख्याति—
 भावयेत् पुनः पुनः चिन्तयेत्। कियत्कालं? नित्यं सदैव।
 कं? आत्मानं। कथंभूतं? रागद्वेषविवर्जितं रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ,
 प्रीत्यप्रीतिभावौ, ताभ्यां विवर्जितं रहितम्। कथं? शक्तिः
 यथाशक्ति। कस्मिन्काले? सौस्थ्ये अनुकूलावसरे, न केवलं
 सौस्थ्ये दौःस्थ्ये च प्रतिकूलावसरेऽपि। किं कृत्वा? आलोच्य

है — यह तात्पर्य है ॥१६ ॥

२. तत्त्व-स्वरूप की जानकारी के बाद क्या करना चाहिए?
 उसे प्रसिद्ध करते हैं —

टीकार्थः — (भावयेत्) पुनः-पुनः चिंतन करना चाहिए।
 कितने काल (कब) तक चिंतन करना चाहिए? (नित्यं) सदैव/
 निरंतर चिंतन/भावना करना चाहिए। किसकी भावना करना चाहिए?
 (आत्मानं) आत्मा की भावना करना चाहिए। कैसे आत्मा की
 भावना करना चाहिए? (रागद्वेषविवर्जितं) राग और द्वेष —
 राग-द्वेष अर्थात् प्रीति-अप्रीति का भाव, उनसे रहित — राग-
 द्वेष रहित (क्रमशः द्वन्द्व समास और पंचमी तत्पुरुष समास द्वारा
 विश्लेषण किया है) आत्मा की भावना करना चाहिए। आत्मा की
 भावना कैसे करना चाहिए? (शक्तिः) यथाशक्ति आत्मभावना
 करना चाहिए/आत्मभावना किस समय करना चाहिए? (सौस्थ्ये)
 अनुकूल अवसर में; मात्र अनुकूल अवसर में ही नहीं; अपितु
 (दौःस्थ्ये) प्रतिकूल अवसर में भी आत्मभावना करना चाहिए।
 क्या करके वह करना चाहिए? (आलोच्य) सब ओर से विमर्शकर,
 ऊहापोह पूर्वक विचारकर आत्मभावना करना चाहिए। किसका

सर्वतः विमर्श्य ऊहापोहपूर्वकं विचार्य । किं तत्? इदं सर्वम् ।
इदं किं? इति पूर्वं यत् यथा प्ररूपितं तत् तथा तेनैव प्रकारेण ।

उपरि यत् यथा व्याख्यातं तत् तथैव सर्वं सम्यगालोच्य
यथाशक्ति अनुकूले प्रतिकूले चावसरे स्वं रागद्वेषविविक्तमेव
नित्यं भावयेत् । न केवलमनुप्रेक्षेत एव, किन्तु तथा भवितुमन्त-
र्बहिश्च प्रयतेत्, इत्याशयः ॥१६ ॥

विचारकर वह करना चाहिए? (इदं सर्वं) इस सबका विचारकर
आत्मभावना करना चाहिए । 'इस सबका' से तात्पर्य क्या है?
(इति) इसप्रकार पहले जो जिस रूप में कहा गया है, उसका
उसीप्रकार से विचारकर आत्मभावना करना चाहिए — यह 'इस
सबका' तात्पर्य है ।

पहले जो जैसा व्याख्यान किया गया है, उस सबका उसीप्रकार
सम्यक् प्रकार से ऊहापोह पूर्वक विचारकर, यथाशक्ति अनुकूल-
प्रतिकूल सभी अवसरों में राग-द्वेष से रहित अपनी ही नित्य
भावना करना चाहिए । मात्र भावना/अनुप्रेक्षा ही नहीं करना चाहिए,
अपितु उसरूप परिणमन-हेतु अन्तर्बाह्य प्रयत्न भी करना च हिए
— ऐसा आशय है ॥१६ ॥

— इस जानने-योग्य को जानो —

णविएहिं जं णविज्जइ, झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं ।

थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ, देहत्थं किं पि तं मुणह ॥१०३ ॥

दूसरों के द्वारा नमस्कार-योग्य इंद्रादि भी जिसे नमस्कार करते
हैं, दूसरों के द्वारा स्तुति-योग्य सिद्ध भगवान भी जिसका सदा ध्यान
करते हैं, दूसरों के द्वारा स्तुति-योग्य तीर्थकरादि भी जिसकी स्तुति
करते हैं; शरीर में स्थित उस किसी अनिर्वचनीय निज भगवान
आत्मतत्त्व को तुम जानो ।

- मोक्षपाहुड़, आचार्य कुन्दकुन्ददेव

१. सकषायस्यात्माराधना न घटते इति दृष्टान्तेन निरूपयन्नाह—

कषायैः रंजितं चेतस्तत्त्वं नैवावगाहते ।

नीलीरक्तेऽम्बरे रागो, दुराधेयो हि कौंकुमः ॥१७॥

कषायैः क्रोधाद्यनात्मभावैः रंजितं कलुषितं चेतः मनः तत्त्वं शुद्धात्मतत्त्वं नैवावगाहते नैवाराधयति । यथा नीलीरक्ते नील्या रंजिते अम्बरे वस्त्रे कौंकुमः कुंकुमस्यायं कौंकुमः रागो वर्णः दुराधेयो धर्तुमशक्यः । रागद्वेषादिपरित्यागेन बिना सहज परमात्मभावना न स्यादिति तात्पर्यम् ॥१७॥

१. कषाय सहित जीव के आत्माराधना घटित नहीं होती है, इसे दृष्टान्त द्वारा निरूपित करते हुए कहते हैं —

ज्यों दुष्कर है नील वस्त्र पर, कुंकुम रंग का चढ़ पाना ।

त्यों कषाय से रंजित मन का, आत्मतत्त्व में रम पाना ॥१७॥

श्लोकार्थ : — जैसे नीले रंग में रँगे हुए वस्त्र पर कुंकुम रंग (केशरिया रंग) चढ़ पाना दुष्कर है/ कठिन है; उसीप्रकार कषाय से रंजित चित्त, तत्त्व में (निजशुद्धात्मतत्त्व में) अवगाहन नहीं कर पाता है ।

टीकार्थ : — (कषायैः) क्रोधादि अनात्मभावों से (रंजितं) कलुषित (चेतः) मन (तत्त्वं) शुद्धात्मतत्त्व की (नैवावगाहते) आराधना नहीं कर पाता है । जैसे (नीलीरक्ते) नीले रंग से रँगे हुए (अम्बरे) वस्त्र पर (कौंकुमः) कुंकुम का (रागो) रंग (दुराधेयो) ग्रहण हो पाना/चढ़ पाना अशक्य है ।

राग-द्वेष आदि परित्याग के बिना सहज परमात्म-भावना नहीं होती है — यह तात्पर्य है ॥१७॥

२. एषा हि भावना कुतः कर्तव्या इति सदृष्टान्तमुपदिशति —

नैवावगाहते न हि अवधारयति । किं कर्तुं? चेतः अन्तःकरणं मानसज्ञानं श्रुतज्ञानमिति यावत् कथंचित् तदभिन्नत्वात् आत्मा वा । कथंभूतः चेतः? रंजितं रक्तं व्यामिश्रमभिभूतं वा । कैः? कषायैः मोहक्षोभरूपैः रागद्वेषैः क्रोधादिभिः । एतदेव दृष्टान्तेन समर्थयते — हि यतः दुराधेयः दुःखेन आधातुं योग्यः सहसा आधातुं न शक्यते इत्यर्थः । कः? रागः । कथंभूतः? कौंकुमः कुंकुमसम्बन्धी । क्व? अम्बरे वस्त्रे । कथंभूतः? नीलीरक्ते नीलरागेनानुरंजिते ।

२. यथा भावना कैसे करना चाहिए? इसका दृष्टान्त पूर्वक उपदेश देते हैं —

टीकार्थः — (नैवावगाहते) धारण नहीं करता है । कर्तारूप कौन धारण नहीं करता है? (चेतः) मन, मानसज्ञान, श्रुतज्ञान अथवा उससे कथंचित् अभिन्न होने के कारण आत्मा धारण नहीं करता है । कैसा मन धारण नहीं करता है? (रंजितं) रंगा हुआ, मिश्रित हुआ अथवा अभिभूत हुआ मन धारण नहीं करता है । किनसे अभिभूत हुआ ऐसा नहीं कर पाता है? (कषायैः) मोह-क्षोभ रूप राग-द्वेष से, क्रोधादि से अभिभूत हुआ मन धारण नहीं कर पाता है । इसका ही दृष्टान्त से समर्थन करते हैं — (हि) क्योंकि (दुराधेयः) दुःख से धारण करने-योग्य है । सहसा धारण करने के लिए शक्य नहीं होता है — ऐसा अर्थ है । कौन शक्य नहीं होता है? (रागः) रंग शक्य नहीं होता है । कैसा रंग शक्य नहीं होता है? (कौंकुमः) कुंकुम संबंधी रंग शक्य नहीं होता है? कहाँ नहीं होता है? (अम्बरे) वस्त्र

यथा नीले वस्त्रे कुंकुमादिरागोऽवधारयितुमशक्यः तथैव
यावच्चेतः कषायानुरक्तं तिष्ठति, तावत् तत् शुद्धात्मस्वरूपं
तत्त्वं अवधारयितुं न शक्नोति । तत एव रागद्वेषविवर्जितमात्मानं
नित्यं भावयेन्मुमुक्षुरित्याशयः ॥१७॥

पर नहीं होता है। कैसे वस्त्र पर नहीं होता है? (नीलीरक्ते) नीलेरंग
से रंगे हुए वस्त्र पर धारण करने के लिए समर्थ नहीं होता है।

जैसे नीले वस्त्र पर कुंकुमादि रंग धारण कर पाना/चढ़ पाना
अशक्य है; उसीप्रकार जबतक मन कषायों से अनुरंजित है,
तबतक वह शुद्धात्मस्वरूप तत्त्व को धारण करने के लिए समर्थ
नहीं होता है; इसीलिए मुमुक्षु को राग-द्वेष से रहित आत्मा की
सदा भावना करना चाहिए — यह आशय है ॥१७॥

मोक्ष प्राप्त कौन करता है ?

जो ण हवदि अण्णवसो, तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ।

कम्मविणासणजोगो, णिव्वुदिमग्गो त्ति पिज्जुत्तो ॥१४१॥

ण वसो अवसो अवसस्स, कम्मवावस्सयं ति बोधव्वा ।

जुत्ति त्ति उवायं ति य णिरवयवो होदि णिज्जेत्ती ॥१४२॥

जो अन्यवश नहीं है, उसके कर्म को आवश्यक कर्म कहते हैं,
कर्म का विनाश करनेवाला योगमय यह आवश्यक कर्म निर्वाण
का मार्ग कहा गया है।

जो अन्य के वश नहीं है, वह अवश है। अवश का कर्म
आवश्यक है — ऐसा जानना चाहिए। यह अशरीरी होने की युक्ति
है, उपाय है। इससे जीव अशरीर होता है — ऐसी निरुक्ति है।

- नियमसार, आचार्य कुन्दकुन्ददेव

१. पुनरपि तत्त्वभावनोपायमाह —

ततस्त्वं दोषनिर्मुक्त्यै, निर्मोहो भव सर्वतः।

उदासीनत्वमाश्रित्य, तत्त्वचिन्ता परो भव॥१८॥

ततस्तस्मात् कारणात् त्वं आत्मनो दोषनिर्मुक्त्यै राग-द्वेषादि-
दोषपरिहारार्थं सर्वतः सर्ववस्तुषु निर्मोही मोहरहितो भव।
उदासीनत्वं शत्रुमित्रेषु माध्यस्थ्यं आश्रित्य उपदौक्य तत्त्व-
चिन्तापरः आत्मस्वरूपानुभवनतत्परो भव। निर्मोहमाध्यस्थ्य-
भावनया बिना तत्त्वसंवित्तिर्नागच्छतीति तात्पर्यम्॥१८॥

२. इदानीं शुद्धात्मस्वरूपोपलब्धये रागद्वेषरहितात्मभावना-

१. अब, तत्त्वभावना के और भी उपाय कहते हैं —

अतः दोष निर्मुक्ति हेतु, पूर्णतया निर्मोही हो।

उदासीनता का आश्रय ले, तत्त्वचिन्तन में रत हो॥ १८॥

श्लोकार्थः — अतः तुम दोषों से मुक्त होने के लिए सब ओर से निर्मोही हो जाओ तथा उदासीनता का आश्रय लेकर तत्त्व (शुद्धात्मतत्त्व) के चिन्तन में तत्पर हो जाओ।

टीकार्थः — (ततः) उस कारण से (त्वं) तुम आत्मा को (दोषनिर्मुक्त्यै) राग-द्वेषादि दोषों से मुक्त करने के लिए (सर्वतः) सभी वस्तुओं में (निर्मोही) मोहरहित (भव) हो जाओ। (उदासीनत्वं) शत्रु-मित्र में मध्यस्थता का (आश्रित्य) आश्रय लेकर (तत्त्व-चिन्तापरः) आत्मस्वरूप के अनुभवन में तत्पर (भव) हो जाओ।

निर्मोह माध्यस्थ्य भावना के बिना तत्त्व-संवित्ति/शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति नहीं होती है — यह तात्पर्य है॥१८॥

२. अब शुद्धात्मस्वरूप की उपलब्धि के लिए राग-द्वेष से

पूर्वकं त्वया कथंभूतेन भाव्यमित्युपदिशति —

ततः तस्मात् कारणात्, कुतः? यतो यथा नीलीरागादि-परिहारमन्तरा कौंकुमादिरागो वस्त्रे नाधातुं शक्यते, तथा रागद्वेषमोहरहितात्मभावनया तत्परिहारमन्तरा तत्त्वचिन्तापरता भवितुं नार्हति, तस्मात् त्वं हे मुमुक्षो भव्यः भव। कथंभूतः? सर्वतः निर्मोहः समस्तेभ्य इष्टानिष्टविषयादिभ्योऽन्तर्बहीरूपेभ्यो मोहविकल्पेभ्यः निर्गतः पृथग्भूतः। एतदनन्तर पुनरपि भव। कथंभूतः? तत्त्वचिन्तापरः तत्त्वं निजशुद्धात्मस्वरूपं तस्य चिन्ता चिन्तनं — विषयान्तरेभ्यो व्यावृत्य तत्रैव एकाग्रतया स्थितिः तत्र परःलीनः। किं कृत्वा? आश्रित्य अवलम्ब्य। किं? उदासीनत्वं

रहित आत्मा की भावना पूर्वक तुम्हें (शुद्धात्मतत्त्व) कैसे भाना चाहिए, इसके लिए उपदेश देते हैं —

टीकार्थः — (ततः) उस कारण से। किस कारण से? क्योंकि जैसे नीले रंग आदि का परिहार किए बिना कौंकुमादि रंग वस्त्र पर धारण करना/चढ़ाना शक्य नहीं है; उसीप्रकार राग-द्वेष-मोह से रहित आत्मा की भावना द्वारा उनका (रागादि का) परिहार हुए बिना तत्त्व-चिन्तन में लीनता होना शक्य नहीं है; इसकारण (त्वं) हे मुमुक्षु भव्य! (भव) हो जाओ। कैसे हो जाओ? (सर्वतः निर्मोहः) समस्त इष्ट-अनिष्ट विषय आदि संबंधी मोह विकल्पों से अन्तर्बाह्य रूप से पृथक् हो जाओ। इसके बाद और भी हो जाओ। कैसे हो जाओ? (तत्त्वचिन्तापरः) तत्त्व निजशुद्धात्मस्वरूप, उसकी चिन्ता-चिन्तन; अन्य सभी विषयों से निवृत्त होकर वहाँ (अपने शुद्धात्म-स्वरूप में) ही एकाग्रता पूर्वक स्थिति करने में लीन हो जाओ। क्या करके लीन हो जाओ? (आश्रित्य) अवलम्बन कर लीन

उपेक्षाभावम्। —

अयमाशयः — निजशुद्धज्ञानानन्दस्वरूपसिद्धये सर्वतः प्राक् आत्मनः दोषनिर्मुक्त्यै रागद्वेषमोहादिदोषपरिहाराय सर्वेभ्य इष्टानिष्टविषयेभ्यस्तथा विकल्पेभ्यश्च मोहं त्यक्त्वा शुद्धात्म-भावना कर्तव्या। तत्सिद्धौ शुभविकल्पेभ्योऽप्यौदासीन्यमाश्रयम्। पुनः सर्वथा अप्रमत्तो भूत्वा निर्विकल्पसमाधिसिद्धये यत्नं कुरु ॥१८॥

हो जाओ। किसका अवलम्बन करके लीन होऊँ? (उदासीनत्वं) उपेक्षाभाव का अवलम्बन लेकर लीन हो जाओ।

आशय यह है कि निजशुद्ध-ज्ञानानन्द स्वरूप की सिद्धि के लिये सर्वप्रथम आत्मा के (दोषनिर्मुक्त्यै) राग-द्वेष-मोह आदि दोषों के परिहार के लिए, सभी इष्टानिष्ट विषयों से तथा विकल्पों से मोह छोड़कर शुद्धात्मा की भावना करना चाहिए। उसकी सिद्धि के लिये शुभ विकल्पों के प्रति भी उदासीनता का आश्रय लेना चाहिए। इसके बाद सर्वथा अप्रमत्त होकर निर्विकल्प समाधि की सिद्धि के लिए प्रयत्न करो ॥१८॥

आत्माराधना से आत्मोपलब्धि

संयम्य करण-ग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः।

आत्मानमात्मवाढ्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम् ॥२२॥

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।

ददादि यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥२३॥

स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से रोककर मन की एकाग्रता पूर्वक आत्मा आत्मा में स्थिर होकर आत्मा द्वारा ही अपने आत्मा का ध्यान करे।

अज्ञान की उपासना से अज्ञान और ज्ञानी के आश्रय से ज्ञान उत्पन्न होता है; क्योंकि जो जिसके पास होता है, वह वही देता है — यह वचन प्रसिद्ध है।

- इष्टोपदेश, आचार्य पूज्यपाद स्वामी

१. हेयोपादेयं ज्ञात्वा हेयं त्यक्त्वा उपादेयं स्वीकुर्वति कथयन्नाह —

हेयोपादेयतत्त्वस्य, स्थितिं विज्ञाय हेयतः।

निरालम्बो भवान्यस्मादुपेये सावलम्बनः ॥१९॥

हेयोपादेयतत्त्वस्य स्थितिं संसारसंसारकारणं मोक्षमोक्ष-कारणरूपं विज्ञाय ज्ञात्वा अन्यस्माद् हेयतः अन्यहेयरूपसंसार-संसारकारणात् निरालम्बः निराश्रयः भव। उपेये उपादेयरूप-मोक्षमोक्षकारणं, तस्मिन् स्वस्वरूपे सावलम्बनः आश्रयो भवत्वम्। पातनिकार्थोऽत्र तात्पर्यम् ॥१९॥

२. इदानीं प्रकारान्तरेण कर्तव्यं विज्ञापयति —

१. हेयोपादेय को जानकर, हेय को छोड़कर, उपादेय को स्वीकार करो, ऐसा बताते हुए कहते हैं —

हेयादेय स्वरूप तत्त्व का, जान हेय पर आलम्बन।

अतः तजो वा ग्रहण करो, है उपादेय स्व आलम्बन ॥१९॥

श्लोकार्थः — हेय और उपादेय तत्त्व की स्थिति को जानकर, हेयरूप पर-पदार्थों का आलम्बन छोड़ो तथा उपादेयरूप स्वतत्त्व का आलम्बन ग्रहण करो।

टीकार्थः — (हेयोपादेयतत्त्वस्य स्थितिं) हेयतत्त्व को संसार और संसार का कारण रूप तथा उपादेय-तत्त्व को मोक्ष और मोक्ष का कारण रूप (विज्ञाय) जानकर (अन्यस्माद् हेयतः) अन्य हेयरूप संसार और संसार के कारण से (निरालम्बो) निराश्रित (भव) हो जाओ (उनका अवलम्बन छोड़ दो)/पर पदार्थ रूप हेय का आश्रय ग्रहण मत करो। (उपेये) उपादेयरूप मोक्ष और मोक्ष के कारणभूत उस अपने स्वरूप में (सावलम्बनः) तुम आश्रय रूप हो जाओ/लीन हो जाओ। यह श्लोक भी आगामी श्लोकों की पातनिका के लिए है — यह तात्पर्य है ॥१९॥

२. अब, अन्य प्रकार से कर्तव्य का विशेष ज्ञान कराते हैं —

हेयोपादेयतत्त्वस्य हेयं च उपादेयं च तयोः समाहारः एवंभूतं यत् तत्त्वे तत् हेयोपादेयरूपं तत्त्वं, तस्य हेयोपादेयतत्त्वस्य स्थितिं स्वरूपं कालमर्यादां च विज्ञाय बुध्वा एतयोः हेयतः त्याज्यादअन्यस्मात् परस्मात् तत्त्वात् निरालम्बः तदवलम्बनरहितः भव उपेये ग्राह्ये निजरूपे सावलम्बनः सप्रश्रयो भव।

तत्त्वं हि द्विधा हेयं उपादेयं च। तत्र हेयतत्त्वस्य आलम्बनं त्यक्त्वा उपादेयतत्त्वं समाश्रय। एवमुत्तरोत्तरशुद्धशुद्धतरशुद्धतमोपादेयतत्त्वाश्रयणेन निजनिर्विकल्पज्ञानानन्दस्वरूपध्याने स्थिरे सति परं तत्त्वं सर्वथा मुच्यते निजं शुद्धं शाश्वतिकं ज्ञानानन्दस्वभावं तु अवशिष्यते; स्वोपलब्धिर्भवतीति आशयः ॥१९॥

टीकार्थः — (हेयोपादेयतत्त्वस्य) हेय और उपादेय इन दोनों का समाहार हेयोपादेय, इसप्रकार के जो तत्त्व, वह हेयोपादेयरूप तत्त्व, उसके-हेयोपादेयतत्त्व के (द्वन्द्व समास, कर्म-धारय समास और षष्ठी तत्पुरुष समास द्वारा विश्लेषण किया है), (स्थितिं) स्वरूप और काल-मर्यादा को (विज्ञाय) जानकर इन दोनों में से (हेयतः) छोड़ने-योग्य (अन्यस्मात्) परतत्त्व से (निरालम्बः) आलम्बनरहित (भव) होओ, उनका आश्रय छोड़ो, (उपेये) ग्रहण करने-योग्य निजरूप में (सावलम्बनः) आश्रय सहित (भव) होओ, उसका आश्रय ग्रहण करो।

(तत्त्व दो प्रकार के हैं — हेय और उपादेय। वहाँ हेयतत्त्व का आलम्बन छोड़कर, उपादेय तत्त्व का आश्रय ग्रहण करो। इसप्रकार उत्तरोत्तर शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम उपादेय तत्त्व के आश्रय से निज निर्विकल्प ज्ञानानन्दस्वरूप के ध्यान में स्थिर होने पर, परतत्त्व सर्वथा छूट जाता है, तथा मात्र निज शुद्ध, शाश्वत ज्ञानानन्द स्वभाव ही शेष रह जाता है; अपने स्वभाव की उपलब्धि हो जाती है — ऐसा आशय है ॥१९॥

१. भेदज्ञानपूर्विकोपेक्षा मोक्षं ददातीति आख्याति —
 स्वं परं चेति वस्तु त्वं, वस्तुरूपेण भावय ।
 उपेक्षाभावनोत्कर्षपर्यन्ते शिवमाप्नुहि ॥२०॥
 इति अनेन कथितक्रमेण स्वं आत्मानं परं च भिन्नमपि
 वस्तु द्रव्यं वस्तुरूपेण सत्यरूपेण त्वं भावय चिन्तय । उपेक्षा-
 भावनोत्कर्षपर्यन्ते सर्ववस्तुषूदासीनभावनाप्रकर्षस्यावसाने शिवं
 मोक्षं आप्नुहि प्राप्नुहि । पातनिकार्थोऽस्य भावार्थः ॥२०॥

२. पुनरपि स्वोपलब्धये प्रकारान्तरेण उपायं दर्शयति —

१. भेदज्ञान पूर्वक उपेक्षा मोक्ष देती है; ऐसा प्रसिद्ध करते हैं —
 वस्तु रूप से स्व-पर वस्तु, की तू नित्य भावना कर ।
 जिससे हो परिपूर्ण उपेक्षा, भाव प्राप्त हो शिव सुखकर ॥२०॥
श्लोकार्थ : — तुम स्व और पर वस्तु की वस्तु रूप से
 भावना करो, (जिससे) उपेक्षा भावना की पूर्ण वृद्धि हो जाने पर
 मोक्ष प्राप्त हो जाएगा ।

टीकार्थ : — (इति) इसप्रकार कहे गए क्रम से (स्वं)
 आत्मा की (परं च) और अपने से भिन्न अन्य वस्तु द्रव्य की
 (वस्तुरूपेण) सत्य रूप से (त्वं भावय) तुम भावना करो,
 चिंतन करो । (उपेक्षाभावनोत्कर्षपर्यन्ते) सम्पूर्ण वस्तुओं के
 प्रति उदासीन भावना के प्रकर्ष के अन्त में/चरमोत्कर्ष दशा में
 (तुम) (शिवं) मोक्ष को (आप्नुहि) प्राप्त करोगे ।

इस श्लोक का पातनिका रूप अर्थ है अर्थात् यह आगामी
 श्लोकों की उत्थानिका है — यह भावार्थ है ॥२०॥

२. अब, और भी दूसरे प्रकार से स्वोपलब्धि का उपाय
 दिखाते हैं —

त्वं भावय हे भव्य! पुनः-पुनः चिंतय। किं? वस्तु तत्त्वम्। केन प्रकारेण? वस्तुरूपेण वस्तुनः रूपं वस्तुरूपं याथात्म्यं, तेन। तत्कथं? स्वं परं चेति स्वं निजं चेतनात्मकं सर्वथोपादेयं, परमतो भिन्नं सर्वमपि चेतनाचेतनात्मकम्। एवं कृते सति किं स्यात्? अतः आह — आप्नुहि प्राप्स्यसीत्यर्थः। किं? शिवं मोक्षं, निजशुद्धस्वरूपम्। कदा? उपेक्षाभावनोत्कर्षपर्यन्ते उपेक्षा-रागद्वेषमोहराहित्यं तस्या भावना-पुनः-पुनः प्रवर्तन-संजातसंस्कारः, तस्या उत्कर्षो वृद्धिः तस्य पर्यन्ते अन्तिमे स्थाने जाते सति।

अयमाग्यः — मोहं रागद्वेषादिकं चाकृत्वा सर्वमपि वस्तु

टीकार्थः — (त्वं भावय) हे भव्य! पुनः-पुनः चिन्तन करो। किसका चिंतन करें? वस्तुतत्त्व का चिंतन करो। किसप्रकार से तत्त्व का चिंतन करें? (वस्तुरूपेण) वस्तु का रूप-वस्तुरूप अर्थात् वस्तु का जैसा स्वरूप है, उस रूप से चिंतन करो। वह वस्तु कैसी है? (स्वं परं चेति) सर्वथा उपादेयभूत निज चेतनात्मक स्व वस्तु और मुझसे भिन्न सभी चेतनाचेतनात्मक पर वस्तु हैं। ऐसा करने से क्या होगा? इसके लिए कहते हैं (आप्नुहि) प्राप्त करोगे — ऐसा अर्थ है। क्या प्राप्त करेंगे? (शिवं) मोक्ष, निजशुद्ध-स्वरूप प्राप्त करोगे। कब प्राप्त करेंगे? (उपेक्षाभावनोत्कर्ष-पर्यन्ते) उपेक्षा — राग-द्वेष-मोह से रहितता, उसकी भावना — पुनः-पुनः प्रवर्तन से उत्पन्न संस्कार, उसका उत्कर्ष, उसकी वृद्धि, उसके अन्तिम स्थान में पहुँच जाने पर अर्थात् राग-द्वेष-मोह से रहित भावना के चरमोत्कर्ष से मोक्ष प्राप्त करोगे।

आशय यह है कि मोह-राग-द्वेष आदि न कर सभी वस्तुओं

तत्स्वरूपमात्रेण बोध्यं श्रद्धेयं च। न केवलं बोध्यं श्रद्धेयं च,
पुनः-पुनः यथाशक्ति सर्वदैव चिन्तनीयं च। एवं सति स्व-
स्माद्धित्रे सर्वस्मिन् वस्तुनि उपेक्षाभावः सेत्स्यति। अन्तिमस्थान-
पर्यन्तं तत्सिद्धौ तु शिवस्वरूपमात्मानं प्राप्स्यसीति ॥२० ॥

की, उनके स्वरूप मात्र से जानकारी करना चाहिए, उनका श्रद्धान
करना चाहिए। मात्र उनका ज्ञान और श्रद्धान ही नहीं करना
चाहिए; वरन् पुनः-पुनः यथाशक्ति सदैव उनका चिंतन भी करना
चाहिए। ऐसा होने पर अपने से भिन्न सभी वस्तुओं के
प्रति उपेक्षाभाव प्रगट होगा। चरमोत्कर्ष पर्यन्त उस उपेक्षा भाव
की सिद्धि होने पर, तुम शिव स्वरूप आत्मा को प्राप्त हो
जाओगे ॥२० ॥

उत्कृष्ट सुख-प्राप्ति का उपाय

आदमिह दब्यभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं।

थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण ॥२०३ ॥

आभिणिसुदोहिमणकेवलं य तं होदि एक्कमेव पदं।

सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ॥२०४ ॥

एदमिह रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदमिह।

एदेण होहि तित्तो, होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥२०६ ॥

आत्मा में अपदभूत द्रव्यभावों को छोड़कर निश्चित, स्थिर,
एक, स्वभाव से अनुभव-योग्य इस भाव को जैसा है वैसा ग्रहण
करो।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान
— वह एक ही पद है। वह यह परमार्थ है जिसे प्राप्त कर आत्मा
निर्वाण को प्राप्त होता है।

अतः तुम इसमें ही सदा रत रहो, इसमें ही संतुष्ट रहो, इसमें
ही तृप्त होओ; इससे तुम्हें उत्कृष्ट सुख प्राप्त होगा।

- समयसार, आचार्य कुन्दकुन्ददेव

१. यद्यपि निजात्मद्रव्यं उपादेयं, तथापि तत्रासक्तिं मा विधेहीत्यावेदयति —

तथाप्यतीव तृष्णा वा, हन्त माभूत् तवात्मनि।

यावत् तृष्णाप्रसूतिः स्यात् तावन्मोक्षं न यास्यसि ॥२१॥

तथापि एवं सत्यपि हन्त अहो आत्मन् तव ते आत्मनि निजशुद्धबुद्धस्वरूपे तृष्णा माभूत् आकांक्षा मा भूयात्। यावत् यावत् कालं तृष्णाप्रसूतिः कांक्षोत्पत्तिः स्याद् भवेद् तावत् कालं मोक्षं मुक्तिपदं न यास्यसि न गमिष्यसि। परमवीतराग-परिणामेन बिना मोक्षो न घटते इति तात्पर्यम् ॥२१॥

१. यद्यपि निजात्मद्रव्य उपादेय है, तथापि वहाँ भी आसक्ति मत करो; ऐसा आवेदन करते हैं (मर्यादा पूर्वक ज्ञान कराते हैं) —

यद्यपि आत्मा उपादेय है, तदपि न कर अतीव कांक्षा।

जब तक कांक्षा होती रहती, तब तक न हो मुक्त दशा ॥२१॥

श्लोकार्थः — (यद्यपि निजशुद्धात्मद्रव्य उपादेय है) तथापि उस आत्मा में तुम्हारी अतीव तृष्णा नहीं होना चाहिए; कारण कि जब तक तृष्णा उत्पन्न होती रहेगी, तब तक मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकोगे।

टीकार्थः — (तथापि) (शुद्धात्मतत्त्व ही एकमात्र उपादेय है) ऐसा होने पर भी (हन्त) अरे आत्मन्! (तव) तुम्हारी (आत्मनि) निजशुद्धबुद्ध स्वरूप में (तृष्णा माभूत्) तृष्णा नहीं होना चाहिए। (यावत्) जितने समय तक (तृष्णाप्रसूतिः) तृष्णा की उत्पत्ति (स्यात्) होती रहेगी, (तावत्) उतने समय तक (मोक्षं) मुक्तिपद (न यास्यसि) प्राप्त नहीं कर सकोगे।

परमवीतराग परिणाम के बिना मोक्ष घटित नहीं होता है — यह तात्पर्य है ॥२१॥

२. इस पर द्वितीया टीका नहीं है।

१. कुतः एतदित्युक्ते प्रत्युत्तरमाह —

यस्य मोक्षेऽपि नाकांक्षा, स मोक्षमधिगच्छति।

इत्युक्तत्वाद्धितान्वेषी, कांक्षां न क्वापि योजयेत् ॥२२ ॥

यस्य परमयोगीश्वरस्य मोक्षेऽपि निर्वाणेऽपि नाकांक्षा तृष्णा नास्ति, सः निर्विकल्पपरिणामपरिणतः मोक्षं अविनश्वरस्थानं अधिगच्छति। इत्युक्तत्वात् एवं कथनात् हितान्वेषी मोक्षसुखाभिलाषी भवान् क्वापि चेतनाचेतनात्मके वस्तुनि कांक्षां तृष्णां न योजयेत् न युंजोत।

उक्तं च परमात्मप्रकाशे —

१. यह कैसे (शक्य है)? ऐसा कहने पर प्रत्युत्तर देते हैं —

जिसे न मुक्ति की भी कांक्षा, मुक्ति होती उसकी ही।

ऐसा कथन अतः हित शोधक, कर ना कांक्षा कहीं कभी ॥२२ ॥

श्लोकार्थः — जिसे मोक्ष की भी कांक्षा/इच्छा नहीं है, वह मोक्ष प्राप्त करता है — ऐसा कथन होने से हितान्वेषी को कहीं भी कांक्षा नहीं करना चाहिए।

टीकार्थः — (यस्य) जिन परमयोगीश्वर के (मोक्षेऽपि) निर्वाणसम्बन्धी भी (नाकांक्षा) तृष्णा नहीं है, (सः) निर्विकल्प परिणाम रूप से परिणत वे योगीश्वर (मोक्षं) अविनश्वर स्थान को (अधिगच्छति) प्राप्त होते हैं। (इत्युक्तत्वात्) ऐसा कथन होने से (हितान्वेषी) हे मोक्षसुखाभिलाषी! आपको (क्वापि) चेतनाचेतनात्मक किसी भी वस्तु में (कांक्षा) तृष्णा (न योजयेत्) नहीं रखना चाहिए।

‘परमात्मप्रकाश’ में भी कहा है —

मोक्खु म चिंतहि जोइया मोक्खु ण चिंतितु होई ।

जेण णिवद्धउ जीवडउ, मोक्खु करेसइ सोइ ॥

— अध्याय २, दोहा १८८ ॥२२ ॥

२. उपेक्षाभावना हि कदा पर्यन्तं याति इत्यागमात्रदश्यं
समर्थं च तद्विरुद्धा हि कांक्षा कुतो न कर्तव्या इति दृढयति —
न योजयेत् संलग्नं न कुर्यात् । कां? कांक्षां अभिलाषाम् ।
क्व? क्वापि स्वस्माद्भिन्ने परत्र सर्वत्रापि बाह्याभ्यन्तरविषयमात्रे ।
कः? हितान्वेषी हितं मोक्षं निजशुद्धस्वरूपोपलभमन्वीक्षति,
वाञ्छति, गवेषयति वा इति हितान्वेषी, शाश्वतिकनिर्बाध-
निजटंकोत्कीर्णज्ञानानन्दस्वरूपोपलिप्सुः । कुत एवमिति चेत्

— “हे योगी, मोक्ष की भी चिंता मत करो, क्योंकि मोक्ष चिंता से नहीं होता है । जिनसे जीव बँधा है, वे ही उसका मोक्ष करेंगे, अर्थात् उनके अभाव का नाम ही मोक्ष है” ॥२२ ॥

२. उपेक्षा भावना कब तक चलती रहती है, इसे आगम (के माध्यम) से दिखाकर और इसका समर्थन कर, उससे विरुद्ध कांक्षा क्यों नहीं करना चाहिए? इसे दृढ़ करते हैं —

टीकार्थ : — (न योजयेत्) संलग्न मत करो । किसे संलग्न नहीं करें? (कांक्षां) अभिलाषा को संलग्न मत करो । कहाँ संलग्न न करें? (क्वापि) अपने से भिन्न अन्य सम्पूर्ण ही बाह्य-अभ्यन्तर किसी भी विषयमात्र में कांक्षा नहीं करो । इनमें कांक्षा कौन नहीं करे? (हितान्वेषी) हित/मोक्ष/निजशुद्धस्वरूप को जो पाना चाहता है या खोजना चाहता है, वह हितान्वेषी है, अथवा शाश्वतिक निर्बाध निज टंकोत्कीर्ण ज्ञानानन्द स्वरूप को प्राप्त करने का इच्छुक कांक्षा न करे ।

इत्युक्तत्वात् इति एवं प्रकारेण उक्तत्वात्। एतद्धि सार्वज्ञं वच
इति सर्वज्ञकल्पैर्गणधरादिभिरागमे निर्दिष्टत्वात्। किं तत् सार्वज्ञं
वच इति चेत् “यस्य मोक्षेऽपि नाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति”
इति, अधिगच्छति प्राप्नोति। कं? मोक्षं सर्वकर्मविप्रमोक्षं,
निजशुद्धचिदानन्दस्वरूपोपलम्भं वा। कः? सः। सः कः?
यस्य न नास्ति। का? आकांक्षा स्पृहा लिप्सा वा। क्व?
मोक्षेऽपि अपि शब्दात् पुण्यकर्मोदयजनितेष्वाम्युदयिकेषु पदेषु
तु किं वाच्यं, तदभिलाषायास्तु प्रागेव दूरात्सारितत्वात्।

ऐसा क्यों? यदि ऐसा प्रश्न हो तो कहते हैं (इत्युक्तत्वात्)
ऐसा कथन होने से; सर्वज्ञ के अनुसार गणधरादि द्वारा आगम में
कहा गया होने से यह सर्वज्ञ का वचन है। वह सर्वज्ञ का वचन
क्या है? यदि ऐसा प्रश्न हो तो कहते हैं — **मोक्षं** (“यस्य मोक्षेऽपि नाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति”) इसप्रकार
(अधिगच्छति) प्राप्त करता है। किसे प्राप्त करता है? (**मोक्षं**)
सम्पूर्ण कर्मों से विशिष्ट और प्रकृष्ट रूप से मोक्ष (छुटकारा/मुक्ति)
अथवा निज-शुद्ध-चिदानन्द स्वरूप की उपलब्धि रूप मोक्ष को
प्राप्त करता है। इसे कौन प्राप्त करता है? (**सः**) वह प्राप्त करता
है। प्राप्त करने वाला वह कौन है? (**यस्य न**) जिसके नहीं है,
वह है। क्या नहीं है? (**आकांक्षा**) स्पृहा या लिप्सा नहीं है।
कांक्षा किसमें नहीं है? (**मोक्षेऽपि**) मोक्ष में भी कांक्षा नहीं है,
अपि शब्द से यह फलित होता है कि पुण्यकर्म के उदय में उत्पन्न
आभ्युदयिक पदों (भौतिक या स्वर्गादिक पदों) संबंधी अभिलाषा
का तो कहना ही क्या? वह तो पहले दूर से ही नष्ट कर दी गई
होने से उसे तो यहाँ अवकाश ही नहीं है; परन्तु जिसे मोक्ष की
भी कांक्षा नहीं है, वह मोक्ष प्राप्त करता है।

सर्वथा निरीहवृत्तिमन्तरा निर्विकल्पसमाधिबलेन न हि कश्चिदपि साधुरेकान्तेन सर्वकर्माणि निर्जीर्यनिजविशुद्धज्ञानानन्दस्वभावेऽवस्थातुं शक्नोतीति हेतोः सर्वतः मोहोदयजन्या पररूपा कांक्षा त्याज्या, तत्सिद्धये च बाह्येषु इन्द्रियानिन्द्रियविषयेष्विष्टानिष्टभावनामपोह्य आत्मभावना उद्योतनोद्यवननिर्वहणसिद्धिनिस्तरणक्रमेण उपेक्षोत्कर्षपर्यन्तं नेया चेति भावः ॥२१॥

सर्वथा निरीह वृत्ति के बिना निर्विकल्प समाधि के बल से कोई भी साधु, पूर्णतया सर्वकर्मों की निर्जरा कर, निज विशुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव में स्थित होने के लिए समर्थ नहीं है; इस कारण सर्व ओर से, मोह के उदय में उत्पन्न होने वाली पर पदार्थों संबंधी कांक्षा त्याज्य है और उसकी सिद्धि के लिए इन्द्रिय और मन के बाह्य विषयों में इष्टानिष्ट भावना को छोड़कर, आत्मभावना को उद्योतन, उद्यवन, निर्वहण, सिद्धि, निस्तरण के क्रम से उपेक्षा के उत्कर्ष पर्यन्त ले जाना चाहिए — ऐसा भाव है ॥२१॥

अक्षयसुख-प्राप्ति का उपाय

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा ।

जीवस्स ण संति धुवा, धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥१९३॥

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे ।

होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ॥१९५॥

शरीर, धन, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र जन — ये सभी जीव के लिए कुछ भी धुव नहीं हैं। एक उपयोगात्मक आत्मा ही धुव है।

ऐसा जानकर जो मोहग्रंथी को नष्ट कर, राग-द्वेष का क्षय कर, सम सुख-दुःख होता हुआ श्रमणता में परिणमित होता है, वह अक्षय सौख्य को प्राप्त करता है। - प्रवचनसार, आचार्य कुन्दकुन्ददेव

१. मोक्षपददानसमर्थोपेक्षा कथं स्यादित्युत्तरमाह —

सापि च स्वात्मनिष्ठत्वात्सुलभा यदि चिन्त्यते ।

आत्माधीने सुखे तात! यत्नं किं न करिष्यसि ॥२३॥

सापि च उपेक्षाभावनापि च स्वात्मनिष्ठत्वात् स्वस्वरूप-
निष्ठत्वात् सुलभा सुप्राप्या यदि चिन्त्यते यदि ज्ञायते भवति
चेत्, आत्माधीने स्वाधीने सुखे उपेक्षाभावनात्मकसुखे तात!
अहो पितः! यत्नं उद्योगं किं न करिष्यसि किमिति न करोसि
त्वं?, ईदृग्भूतभावनायां यत्नं कुर्विति तात्पर्यम् ॥२३॥

२. प्रकारान्तरेण कांक्षां त्यक्तुं दिशति —

१. उपेक्षा मोक्ष देने में समर्थ कैसे है? इसके उत्तर में कहते हैं —

स्वात्मनिष्ठ होने से है वह, सुलभ यदि ऐसा चिंतन।

तो फिर आत्माधीन सुखों की, प्राप्ति हेतु क्यों नहीं प्रयत्न? ॥२३॥

श्लोकार्थ : — वह कांक्षा, स्वात्माधीन होने से सुलभ है —

यदि तुम्हारा ऐसा चिंतन हो तो हे तात! आत्माधीन सुख के लिए
तुम प्रयत्न क्यों नहीं करोगे? पूर्ण स्वाधीन होने से वहाँ तो तुम
प्रयत्न करोगे ही करोगे।

टीकार्थ : — (सापि च) और वह उपेक्षा भावना भी
(स्वात्मनिष्ठत्वात्) अपने स्वरूप में निष्ठता/लीनता के कारण
(सुलभा) सरलता से प्राप्त हो सकती है (यदि चिन्त्यते) यदि
ऐसा ज्ञात हो जाए तो (आत्माधीने) स्वाधीन (सुखे) उपेक्षा
भावना के फलरूप सुख में (तात!) अहो पिता! (यत्नं) उद्योग/
प्रयास (किं न करिष्यसि) क्या तुम नहीं करोगे? अवश्य करोगे;
इसप्रकार की उपेक्षा-भावना हेतु प्रयत्न करो — यह तात्पर्य है ॥२३॥

२. दूसरे प्रकार से कांक्षा का त्याग करने के लिए (उपाय)
बताते हैं —

अपि च प्रकारान्तरेण कांक्षायाः परिहारं निर्दिशतीत्यर्थः ।
 यदि चिन्त्यते पुनः-पुनः विचारविषयी क्रियते चेत् सर्वैरपि
 संज्ञिभिरिति शेषः । का? सा पूर्वोक्ता कांक्षा । कथंभूता? सुलभा
 अक्लिष्टा । कुतो हेतोः? स्वात्मनिष्ठत्वात् स्वस्यात्मनि तिष्ठतीति
 हेतोः । तर्हि हे तात! किं न करिष्यसि अवश्यं करिष्यसि
 अवश्यमेव कुर्या इत्यर्थः । कं? यत्नं, क्व? सुखे, कथंभूते?
 आत्माधीने निजाश्रिते स्वैरे ।

कांक्षा हि सर्वसंसारिणां स्वभावत एव प्रवर्तते तेषामनादितः

टी नार्थः — (अपि च) और भी दूसरे प्रकार से कांक्षा का
 त्याग करने के लिए (उपाय का) निर्देश देते हैं — यह अर्थ है ।
 (यदि चिन्त्यते) यदि पुनः-पुनः विचार का विषय बनायी जाती
 है, सभी संज्ञी जीवों द्वारा — यह शेष है (श्लोक में नहीं है,
 प्रकरणानुसार ऊपर से ले लेना) । कौन विषय बनायी जाती है?
 (सा) वह पूर्वोक्त कांक्षा विषय बनायी जाती है । उसे विषय
 बनाना कैसा है? (सुलभा) सरल है । उसे विषय बनाना सरल
 क्यों है? (स्वात्मनिष्ठत्वात्) अपने आत्मा में रहती है — इसकारण
 उसे विषय बनाना सरल है । तब फिर हे तात! (किं न करिष्यसि?)
 क्या नहीं करोगे? अवश्य करोगे-अवश्य ही करना चाहिए —
 ऐसा अर्थ है । क्या करना चाहिए? (यत्नं) प्रयास करना चाहिए ।
 कहाँ प्रयास करना चाहिए? (सुखे) सुख के लिए प्रयास करना
 चाहिए । कैसे सुख के लिए प्रयास करना चाहिए? (आत्माधीने)
 निजाश्रित, स्वाधीन सुख के लिए प्रयास करना चाहिए ।

अनादि से मोहोदय की विशिष्टता होने के कारण उन सभी
 संसारी जीवों के कांक्षा तो स्वभाव (विभाव स्वभाव) से प्रवृत्त

मोहोदयविशिष्टत्वात्; अतएव सा दुस्त्यजा; परन्तु यावत् कांक्षा तावत् संसारदुःखपरम्परा वा । दुःखनिवृत्तौ अनन्तशाश्वतिक-सुखस्वरूपशुद्धात्मलब्धये तु सा सर्वात्मना त्याज्यैव । ततः किं कर्तव्यमिति जिज्ञासा परिहाराय ग्रन्थकर्ता 'हे तात' इति कोमलालापपूर्वकं भव्यमभिमुखीकृत्य सम्यगुपायमिह दर्शयति — हे भव्य! केवलमिह प्राक्कांक्षाया विषयपरिवर्तनं विधेयम् । मोहक्षोभविषयेषु बाह्येषु पदार्थेषु प्रवर्तमानां कांक्षां ततो निवर्त्य आत्माधीनां विधेहि, शुद्धात्मसुखविषयिणीं कुरु । एवं यत्ने कृते त्वं निरीहवृत्तिर्भूत्वा एकत्ववितर्कध्यानयोग्यतां प्रसाध्य, तद्ध्यानसिद्ध्या च संसरणकारणानि तिरस्कृत्य

हो रही है, इसीलिए वह सरलता से नष्ट नहीं होती है; परन्तु जब तक कांक्षा है, तब तक संसार दुःखों की परम्परा है ही । दुःखों से निवृत्ति के लिए, अनन्त शाश्वतिक सुख स्वरूप शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिए तो वह सभी रूपों में त्याज्य ही है/सर्वप्रकार से छोड़ने-योग्य ही है । उसके लिए क्या करना चाहिए? — इस जिज्ञासा का परिहार करने के लिए ग्रन्थकार 'हे तात' — इस कोमल सम्बोधन पूर्वक, भव्य को सामने कर यहाँ सम्यक् उपाय दिखाते हैं — हे भव्य यहाँ मात्र पूर्व कांक्षा का विषय परिवर्तित करना ही कार्य है ।

मोह और क्षोभ के विषयभूत बाह्य पदार्थों में प्रवर्तमान कांक्षा को वहाँ से निवृत्त कर आत्माधीन करो, शुद्धात्मसुखरूप विषय में लगाओ । इसप्रकार प्रयत्न करने पर तुम निरीह-वृत्ति/इच्छाओं से रहित होकर एकत्ववितर्क ध्यान सम्बन्धी योग्यता की प्रकृष्ट साधना कर, उस ध्यान की सिद्धि द्वारा संसरण/संसार-परिभ्रमण

सर्वतः आत्माधीनं सुखं स्वभावत एव प्राप्स्यसि इति स्वात्मनिष्ठत्वादेव हेतोर्मुमुक्षुणा त्वया बहिर्विषयेषु प्रवर्तमाना कांक्षा केवलमन्तरात्मसुखविषयिणी कर्तव्या; शुद्धोपयोग-सिद्धेः प्राक्शुभोपयोगस्यापरिहार्यत्वात् सुकरत्वाच्च ॥२२ ॥

के कारणों का तिरस्कार कर (मोह-क्षोभादि भावों का अभाव कर), सब ओर से आत्माधीन सुख को स्वभाव से ही प्राप्त करोगे — इसप्रकार स्वात्मनिष्ठ रूप हेतु से ही तुझ मुमुक्षु द्वारा बाह्य विषयों में प्रवर्तमान कांक्षा को मात्र अंतरात्मा के सुख को विषय करने में लगाना चाहिए; शुद्धोपयोग की सिद्धि के पूर्व शुभोपयोग की अपरिहार्यता होने से (शुद्धोपयोग के पहले नियम से शुभोपयोग होने के कारण) और (अनादिकालीन संस्कार के कारण) सुकर/सरल होने से, स्वाधीन सुख संबंधी कांक्षा करो ॥२२ ॥

स्वभाव से आत्मा-परमात्मा सभी एक समान हैं

जारिसिया सिद्धप्पा, भवमल्लिय जीव तारिसा होति ।

जरमरणजम्ममुक्का, अट्ठगुणालंकिया जेण ॥४७ ॥

असरीरा अविणासा, अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा ।

जह लोयग्गे सिद्धा, तह जीवा संसिदी णेया ॥४८ ॥

जैसे सिद्ध आत्मा हैं वैसे ही भवलीन जीव हैं। जिससे वे सभी जन्म-जरा-मरण से रहित और आठ गुणों से अलंकृत हैं।

जिसप्रकार लोकाग्र में सिद्ध भगवान अशरीर, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा हैं, उसीप्रकार संसार में सभी जीव जानना चाहिए।

- नियमसार, आचार्य कुन्दकुन्ददेव

१. पुनरप्यात्मनि प्रवृत्तिं कारयति —

स्वं परं विद्धि तत्रापि, व्यामोहं छिन्धि किंत्विमम्।

अनाकुलस्वसंवेद्ये, स्वरूपे तिष्ठ केवले ॥२४॥

स्वं परं स्वपरद्रव्यं विद्धि जानीहि, किन्तु पुनस्तत्रापि स्वपरवस्तुनि इमं अमुं व्यामोहं महास्नेहं छिन्धि विनाशय। अनाकुलं निर्व्यग्रं यथाभवति तथा स्वसंवेद्ये स्वसंवेदनलक्षणे स्वरूपे स्वस्वरूपे केवले केवल-ज्ञानस्वभावे तिष्ठ स्थिरो भव। निर्व्याकुलत्वेनैव स्वरूपे स्थिरत्वं भवति नान्यथेति भावार्थः ॥२४॥

१. पुनः और भी आत्मा में प्रवृत्ति करते हैं —

स्व-पर को समझो तथापि, इस भेदभाव को भी छोड़ो।

मात्र निराकुल स्वसंवेदन, गम्य स्वरूप में स्थिर हो ॥२४॥

श्लोकार्थः : — तुम स्व-पर को जानो, परन्तु वहाँ भी पक्ष-व्यामोह को (भेदभाव के पक्ष को) छोड़ दो; तथा मात्र इस अनाकुल स्वसंवेदनगम्य स्वरूप में स्थिर हो जाओ।

टीकार्थः : — (स्वं-परं) स्व-पर द्रव्य को (विद्धि) जानो; (किन्तु) परन्तु (तत्रापि) उन स्व-पर वस्तुओं में भी (इमं) इस (व्यामोहं) महास्नेह/आसक्ति को (छिन्धि) नष्ट करो। (अनाकुलं) जैसे हो वैसे व्यग्रता रहित होकर (स्वसंवेद्ये) स्वसंवेदनगम्य/लक्षणवाले (स्वरूपे) अपने स्वरूप में (केवले) केवल (मात्र) ज्ञानस्वभाव में (तिष्ठ) स्थिर हो जाओ।

व्याकुलता से रहित होने पर ही स्वरूप में स्थिरता होती है, अन्य किसी प्रकार से स्थिरता होना शक्य नहीं है — यह भावार्थ है ॥२४॥

२. ततः परं केन क्रमेण किं करोमीति जिज्ञासां मनसि निधाय शुद्धोपयोगस्थितेः क्रमं दर्शयति —

बाह्यविषयिणीमाकांक्षामन्तरात्मात्मसुखविषयिकां विधातुं, उपेक्षाभावनामुत्कर्षपर्यन्तं नेतुं च सर्वतः पूर्वं विद्धि अवबुध्यस्व। किं? स्वं निजमात्मतत्त्वं, तथा परं आत्मनो भिन्नं सर्वमपि तत्त्वम्। एवं भेदज्ञानाभ्यासे सति पुनः किं करोमीत्यत आह — किन्तु भेदज्ञानाभ्यासे जातेऽपि पुनः कर्तव्यविशेषं समाचर। किं करोमि? छिन्धि द्वैधीभावं नय, सर्वथा अप्राकुरु। किं? इमं पूर्वमुपादेयतया निर्दिष्टम्। किं? व्यामोहं इदं स्वं, इदं

२. उससे आगे किस क्रम से क्या करता हूँ? क्या करूँ? इसप्रकार की जिज्ञासा मन में रखकर शुद्धोपयोग की स्थिति का क्रम दिखाते हैं —

बाह्यविषयों की आकांक्षा को अन्तरात्मा में आत्मसुख-विषयक करने के लिए और उपेक्षा भावना को उत्कर्ष पर्यन्त ले जाने के लिए सबसे पहले सब ओर से (विद्धि) जानो। किसे जानो? (स्वं) निज आत्मतत्त्व को और (परं) अपने से भिन्न सभी तत्त्वों को जानो। इसप्रकार भेदज्ञान का अभ्यास हो जाने पर पुनः क्या करता हूँ (क्या करना चाहिए)? इसके लिए कहते हैं— (किन्तु) भेदज्ञान का अभ्यास हो जाने पर पुनः कर्तव्य-विशेष का आचरण करो। किस कर्तव्य-विशेष का आचरण करता हूँ (करूँ)? (छिन्धि) द्विधाभाव की ओर ले जाओ, सर्वथा दूर कर दो। किसे सर्वथा दूर कर दूँ। (इमं) पहले उपादेय रूप से कहे गए उसे नष्ट कर दो। वह क्या है? (व्यामोहं) यह स्व, यह पर — ऐसे पक्षाग्रह को दूर कर दो/नष्ट कर दो। उसे कहाँ नष्ट करूँ?

परमिति पक्षग्रहम्। क्व? तत्रापि भेदज्ञानेऽपि।

आत्मसुखविषयिण्यामाकांक्षायां क्रियमाणस्य यत्नस्य उत्पत्तिस्थितिवृद्धयर्थं पूर्वं स्वं परं च तत्त्वं विद्धि; तदनन्तरं तयोः “अहमहमिमे इमे, नाहमेतेषां नैते मम, अहमेभ्यः सर्वथा भिन्नः इमे तु सर्वथा मत्तो भिन्नाः” एवमाकारकं विकल्पं व्यामोहं दूरीकुरु। एवं सति उपयोगं क्व नयामीति समाधानाय विधिविशेषं दिशति —

तिष्ठ स्थिरीभव उपयोगं निरोधय। क्व? स्वरूपे स्वस्वरूपं स्वरूपं ज्ञानाद्यात्मकं तत्र। कथंभूते? केवले अन्यनिरपेक्षे विकल्पादिकारणावलम्बनरहिते नयनिक्षेपानुयोगाद्याश्रयशून्ये च। पुनः कथंभूते? अनाकुलस्वसम्बन्धे न आकुलः संक्लिष्ट-
(तत्रापि) उस भेदज्ञान में भी उसे नष्ट कर दो।

आत्मसुख विषयक आकांक्षा के प्रति किए गए प्रयत्न की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि के लिए सर्वप्रथम स्व और पर तत्त्व को जानो; उसके बाद उन दोनों संबंधी ‘मैं, मैं हूँ; ये, ये हैं; मैं इनका नहीं हूँ, ये मेरे नहीं हैं; मैं इनसे सर्वथा भिन्न हूँ, ये मुझसे सर्वथा भिन्न हैं’ — इसप्रकार के विकल्प-व्यामोह को भी दूर करो। ऐसा होने पर उपयोग कहाँ लगाऊँ — इस प्रश्न के समाधान-हेतु विधि-विशेष दिखाते हैं —

(तिष्ठ) स्थिर हो, उपयोग का निरोध करो। कहाँ स्थिर होऊँ?
(स्वरूपे) स्व का रूप स्वरूप, ज्ञानाद्यात्मक उस स्वरूप में स्थिर हो जाओ। कैसे स्वरूप में स्थिर होऊँ? (केवले) अन्य से निरपेक्ष, विकल्पादि कारणों के अवलम्बन से रहित और नय, निक्षेप, अनुयोग आदि के आश्रय से शून्य स्वरूप में स्थिर हो जाओ और कैसे स्वरूप में स्थिर होऊँ? (अनाकुलस्वसम्बन्धे) जो आकुल,

इत्यनाकुलः स चासौ स्वश्च तेन सम्बद्धे, समस्ताभिराकुलताभिः रहितेनैवात्मनानुभवयोग्ये ।

हेयोपादेयरूपस्वपरतत्त्वं परिज्ञाय हेयं त्यक्त्वा उपादेयतत्त्वमाश्रयणीयम् । उपादेयेऽपि रागद्वेषविकल्पं त्यक्त्वा उपेक्षा भावना साध्या । एतदर्थं बाह्यविषया कांक्षा हेया; सापि पुनः शुद्धात्मविषयिणी विधेया । तत्रापि समस्ताकुलतानिमित्तं व्यामोहरूपं पराश्रयमतद्रूपं भेदसाधनं च अपसार्य शुद्धे निजस्वरूपे एव उपयोगे स्थिते पराणि क्षीयन्ते निजज्ञानानन्दात्मकः आत्मा तु स्वयमवतिष्ठते — इति तात्पर्यम् ॥२३॥

संक्लिष्ट, दुःखमय नहीं है, वह अनाकुल, जो अनाकुल वही स्व, उसके द्वारा जो सम्यक् प्रकार से वेदन करने-योग्य है, वह अनाकुलस्वसम्बद्ध है (नञ् तत्पुरुष, कर्मधारय, तृतीया तत्पुरुष समास द्वारा विश्लेषण किया है); समस्त आकुलताओं से रहित अपने द्वारा ही अनुभव-योग्य अपने स्वरूप में स्थिर हो जाओ ।

उपादेय-हेय रूप स्व-पर तत्त्व को जानकर, हेय को छोड़कर, उपादेय तत्त्व का आश्रय लेना चाहिए। उपादेय में भी राग द्वेष विकल्प छोड़कर, उपेक्षा भावना की साधना करना चाहिए। इसके लिए बाह्य विषयों की कांक्षा हेय है तथा शुद्धात्मा विषयक आकांक्षा करना चाहिए। उसमें भी समस्त आकुलता के निमित्तभूत, व्यामोहरूप, पराधीन, अतद्रूपभेद साधन को दूरकर, शुद्ध निजस्वरूप में ही उपयोग स्थित होने पर, पर (संबंधी विकल्प) नष्ट होते जाते हैं और अपना ज्ञानानन्दात्मक आत्मा ही स्वयं अवस्थित रह जाता है — ऐसा तात्पर्य है ॥२४॥

१. षट्कारकरूपेण आत्मद्रव्यं विशेषयति —

स्वः स्वं स्वेन स्थितं स्वस्मै, स्वस्मात्स्वस्याविनश्वरम् ।

स्वस्मिन् ध्यात्वा लभेत्, स्वोत्थमानन्दममृतं पदम् ॥२५ ॥

स्वस्मात् आत्मद्रव्यात् स्वस्मै आत्मस्वरूपप्राप्त्यर्थं स्वस्य
आत्मनः अविनश्वरे अक्षये स्वस्मिन् आत्मनि स्थितं स्वं आत्म-
स्वरूपं स्वः तत्त्वं कर्ता स्वेन आत्मना निर्विकारपरिणामेन
ध्यात्वा संचिन्त्य स्वोत्थं आनन्दं अनेन प्रकारेण स्वोत्पन्नं अनन्त-
सुखस्वरूपं अमृतं पदं मरणादिदुःखरहितं मुक्तिस्थानं लभेत्
प्राप्नुहि । क्रियाकारकसम्बन्धो व्यवहारेण यद्यपि निरूपितो

१. षट्कारकरूप से आत्मद्रव्य की विशेषता बताते हैं -

स्वयं स्वयं के द्वारा स्वस्थित, स्व को स्व के लिए सदा ।

स्व से स्व के स्वोत्पन्न, अविनाशी आनन्द अमृत का ॥

स्व में ध्यान लगाएगा तो, अविनाशी पद पाएगा ।

इस षट्कारक के अभेद से, सिद्ध स्वयं बन जाएगा ॥२५ ॥

श्लोकार्थ : — यह आत्मा स्वयं, स्वयं को, स्वयं के द्वारा,
स्वयं के लिए, स्वयं से, स्वयं में स्थित, स्वयं का ध्यान करके,
स्वयं से उत्पन्न, अविनश्वर आनन्दमय अमृतपद को प्राप्त करता है ।

टीकार्थ : — (स्वस्मात्) आत्मद्रव्य से, (स्वस्मै) आत्म-
स्वरूप की प्राप्ति के लिए, (स्वस्य) आत्मा के, (अविनश्वर)
अक्षय, (स्वस्मिन्) आत्मा में (स्थितं) स्थित, (स्वं)
आत्मस्वरूप का, (स्वः) स्वयं आत्म तत्त्व रूप कर्ता, (स्वेन)
अपने निर्विकार परिणाम द्वारा (ध्यात्वा) ध्यान कर, (स्वोत्थं
आनन्दं) इसप्रकार स्वयं से उत्पन्न अनन्त सुखस्वरूप, (अमृतं
पदं) मरणादि दुःख रहित मुक्ति-स्थान को (लभेत्) प्राप्त करो ।

यहाँ यद्यपि व्यवहार से क्रिया-कारक सम्बन्ध बताया गया

तथापि निश्चयेन नास्तीति तात्पर्यम् ॥२५ ॥

२. अनाकुलस्वसम्बेद्यकेवलस्वरूपस्थित्या किं सिद्ध्यति?
इति ग्रन्थस्यान्ते साक्षात्कारणप्रदर्शनपूर्वकमन्तिमं साध्यं फलं
प्रदर्शयति —

लभेत् प्राप्नुयात्। कः? स्वः अयं ज्ञानलक्षणः स्वतंत्रः
आत्मा। कं? पदं अवस्थाम्। कथंभूतं? स्वोत्थं स्वस्मात् आत्मनः
उत्था उत्पत्तिर्यस्य स तं आत्मोद्भूतम्। पुनः कथंभूतं? आनन्दं
सम्यक्समृद्धाव्याबाधाल्हादरूपम्। पुनः कथंभूतं? अमृतं अपूर्व-
जरामरणहरसंतर्पकस्वभावम्। पुनः कथंभूतं? अविनश्वरं अक्ष-
यम्। कस्य? स्वस्य आत्मनः। किं कृत्वा? ध्यात्वा एकाग्रीभूय
सर्वतश्चिदव्यापारं निरुध्यात्मन्येव स्थिरीकृत्य। कं? स्वं प्रमित्या-
है; तथापि निश्चय से वह नहीं है — ऐसा तात्पर्य है ॥२५ ॥

२. अनाकुल, स्वसंबेद्य, निरपेक्ष ज्ञान स्वरूप में स्थिति से
क्या सिद्ध होता है? इसप्रकार ग्रन्थ के अन्त में साक्षात् कारण को
दिखाते हुए, अन्तिम साध्य-फल को प्रदर्शित करते हैं —

टीकार्थः : — (लभेत्) प्राप्त करो। कौन प्राप्त करे? (स्वः)
यह ज्ञान लक्षण सम्पन्न स्वतंत्र आत्मा प्राप्त करे। वह किसे प्राप्त
करे? (पदं) वह अवस्था को प्राप्त करे। कैसी अवस्था प्राप्त
करे? (स्वोत्थं) अपने आत्मा से जिसकी उत्पत्ति हुई है ऐसी
आत्मोद्भूत अवस्था प्राप्त करे। वह अवस्था और कैसी है?
(आनन्दं) सम्यक् समृद्ध अव्याबाध आल्हाद रूप है। वह और
कैसी है? (अमृतं) अपूर्व है, जरा (बुढ़ापा), मरण को नष्ट करने
वाली, संतर्पकस्वभावी/तृप्तिदायिका है। वह और कैसी है?
(अविनश्वरं) अक्षय है। इन विशेषणों सहित वह अवस्था
किसकी है? (स्वस्य) वह आत्मा की है। क्या करके उसे प्राप्त
करें? (ध्यात्वा) एकाग्र होकर, सब ओर से चैतन्य का व्यापार
रोककर, उसे आत्मा में ही स्थिर कर उसे प्राप्त करो। किसका

श्रयभूतमात्मानम्। कथंभूतं? स्थितं स्वयंसिद्धनिश्चलविकृत-
स्थिरात्मस्वरूपम्। केन? स्वेन करणभूतपरिच्छेदकपरिणामेन।
कस्मै? स्वस्मै सम्प्रदानभूतोत्तरक्षणवर्तिनिजपरिणामाश्रयफल-
रूपाय। कस्मात्? स्वस्मात् पूर्वपर्यायापायोपादानभूतध्रुव-
स्वभावाश्रयस्वरूपात्। कस्मिन्? स्वस्मिन् असाधारणकारणरू-
पकरणशक्त्याधारे निजस्वरूपे।

अभेदकारकरूपेण ध्याने सत्येवात्मनः सर्वथा परसम्बन्ध-
निवृत्तौ स्वरूपेऽवस्थानसंभवात् स्वस्याक्षयानन्तज्ञानानन्दामृत-
पदलाभो भवतीति तदेव प्रार्थ्यं साध्यं चेति भद्रम् ॥२४॥

ध्यान कर उसे प्राप्त करें? (स्वं) जानकारी के आश्रयभूत (ज्ञान
के निज ज्ञेय) आत्मा का ध्यान कर उसे प्राप्त करो। वह आत्मा
कैसा है? (स्थितं) स्वयंसिद्ध, निश्चल, निर्विकार, स्थिर आत्म-
स्वरूप है। किसके द्वारा उसका ध्यान करें? (स्वेन) करण/
साधकतम साधनभूत जानने वाले परिणाम द्वारा उसका ध्यान
करो। यह सब किसके लिए करें? (स्वस्मै) सम्प्रदानभूत आगामी
क्षणवर्ती अपने परिणामों के आश्रय रूप फल के लिए यह करो
(आगामी अनन्त काल पर्यन्त सुखमय परिणाम ही मुझमें उत्पन्न
होते रहें — इसके लिए यह सब करो)। यह कैसे करें? (स्व-
स्मात्) पूर्व पर्याय के व्यय के उपादानभूत ध्रुवस्वभाव के आश्रय-
मय स्वरूप से यह करो। यह किसमें करें? (स्वस्मिन्) असाधारण
कारणरूप करणशक्ति के आधारभूत निजस्वरूप में यह करो।

अभेद कारकरूप से आत्मा का ध्यान होने पर ही, पर के
साथ सम्बन्ध की सर्वथा निवृत्ति होने पर स्वरूप में अवस्थान
सम्भव होने के कारण, अपने अक्षय-अनन्त-ज्ञानानन्दरूप अमृत
पद का लाभ होता है; अतः वह ही प्रार्थना करने-योग्य है,
साधने-योग्य है — यही कल्याणमय है ॥२४॥

१. उपसंहारद्वारेण ग्रन्थनाम, ग्रन्थाध्ययनफलं कथयति —

इति स्वतत्त्वं परिभाव्य वाङ्मयं,
य एतदाख्याति शृणोति चादरात्।
करोति तस्मै परमार्थसम्पदं,
स्वरूपसम्बोधनपंचविंशतिः ॥२६ ॥

इति अनेन कथितक्रमेण स्वतत्त्वं आत्मतत्त्वं परिभाव्य
विचार्य ये केचनात्मभावनारताः, कृतादराः कृतानुरागाः सन्तः

१. उपसंहार रूप में ग्रन्थ का नाम और ग्रन्थ के अध्ययन का
फल कहते हैं —

पच्चीस श्लोकों मयी, 'स्वरूपसम्बोधन' कृति।
को जो सदा बहुमान से, पढ़ते सुनाते सुनें भी ॥
इसमें कहे स्वतत्त्व की, परिभावना करते सदा।
तो प्राप्त हो परमार्थ वैभव, प्राप्त करते शिव दशा ॥२६ ॥

श्लोकार्थः : — इसप्रकार स्वतत्त्व की परिभावना कर, पच्चीस
श्लोकों वाले 'स्वरूपसम्बोधन' नामक वाङ्मय (ग्रन्थ) को जो
आदर से पढ़ता है, सुनता है, उसके लिए यह ग्रन्थ परमार्थ
सम्पत्ति सम्पन्न करता है अर्थात् इस ग्रन्थ में वर्णित अपने
शुद्धात्मतत्त्व में लीनता से अपने अनन्त गुणों का पारमार्थिक
वैभव पर्याय में प्रगट हो जाता है।

टीकार्थः : — (इति) इस कहे गए क्रम से (स्वतत्त्वं)
आत्मतत्त्व की (परिभाव्य) परिभावना कर (ये) आत्मतत्त्व
की भावना में रत जो कोई जीव (कृतादराः) अनुराग सहित होते
हुए (वाङ्मयं) वचनों से निर्मित इस शास्त्र को (पठन्ति) पढ़ते
हैं, उच्चारण करते हैं (च) और दूसरों द्वारा पठन के काल में

वाङ्मयं वाचा निर्वृत्तमिदं शास्त्रं पठन्ति उच्चारयन्ति च परपठनकाले श्रृण्वन्ति तेषां कृतादराणां स्वरूपसम्बोधन-पंचविंशतिः आत्मस्वरूपप्रद्योतकपंचविंशतिश्लोकरूपशास्त्रं परमात्मसम्पदं परमात्मप्राप्तिं करोति विदधाति।

परं मोक्षार्थिनो हेयोपादेयरूपबहिस्तत्त्वमन्तस्तत्त्वं परमतत्त्वं व्यवहारनिश्चयाभ्यां ज्ञात्वा विश्ववस्तुरूपे अविचलास्ति चेति तात्पर्यम् ॥२६ ॥

स्वरूपसम्बोधनपंचविंशतिः पदार्थकथनात्मिका वृत्तिः समाप्ता।

२. एवं स्वरूपसम्बोधनं विधाय तदध्ययने फलप्रदर्शनपूर्वकं (श्रृण्वन्ति) सुनते हैं (लगता है कि टीकाकार को 'य एतदाख्याति श्रृणोति चादरात्' के स्थान पर 'पठन्ति श्रृण्वन्ति च ये कृतादराः' पाठ मिला है)। उन आदरभाव युक्त जीवों को (स्वरूप सम्बोधन-पंचविंशतिः) आत्मस्वरूप प्रकृष्ट रूप से प्रकाशित करने वाला/ बतानेवाला यह पच्चीस श्लोकों रूप शास्त्र (परमात्मसम्पदं) परमात्मदशा रूप सम्पत्ति को (करोति) करता है, प्रदान करता है, उसे प्रगट करने का मार्ग बताता है (यहाँ भी टीकाकार को 'परमार्थसम्पदं' के स्थान पर 'परमात्मसम्पदं' पाठ मिला है — ऐसा लगता है)।

विशेष यह है कि मोक्षार्थी जीव हेयोपादेयरूप बहिस्तत्त्व-अन्तस्तत्त्व-परमात्मतत्त्व को, व्यवहार-निश्चय द्वारा जानकर, विश्व रूप/अनेकान्तात्मक वस्तुस्वरूप में, अविचल स्थित रहता है — यह तात्पर्य है ॥२६ ॥

इसप्रकार 'स्वरूपसम्बोधनपंचविंशति' (ग्रन्थ) की 'पदार्थ कथनात्मिकावृत्ति (पदों का अर्थ बतानेवाली टीका)' पूर्ण हुई ॥

२. इसप्रकार स्वरूपसम्बोधन करके, उसके फल को दिखाते

भव्यान् प्ररोचयति —

करोति विदधाति। का? स्वरूपसम्बोधनपंचविंशतिः स्व-
स्यात्मनः रूपं याथात्म्यस्वरूपं तस्य सम्बोधनं सम्यग्ज्ञापनं तत्र
प्रवृत्ता पंचविंशतिः इयं पंचविंशतिपद्यप्रमाणा सन्दर्भरूपा
रचना। किं करोति? परमार्थसम्पदं परमश्चासौ अर्थश्च परमार्थः,
सः एव सम्पत् तां, सर्वोत्कृष्टस्वाधीनानन्तज्ञानानन्दामृत-
पदोपलब्धमित्यर्थः। कस्मै? तस्मै। तस्मै कस्मै? य आख्याति
प्रकथयति वाचयति, न केवलमाख्याति शृणोति च अव-
गृह्णाति च। कथं? आदरात् सविनयं। किं? एतत् वाङ्मयं
हुए, भव्य जीवों की उसके अध्ययन में, प्रकृष्ट रूप से रुचि कराते हैं -

टीकार्थः — (करोति) करती है। कौन करती है? (स्वरूप-
सम्बोधन पंचविंशति) अपने आत्मा का रूप जैसा है वैसा
यथार्थ स्वरूप; उसका सम्बोधन-सम्यग्ज्ञापन/यथार्थ ज्ञान
करानेवाली, उसमें प्रवृत्त पच्चीस पद्य प्रमाण यह सन्दर्भ रूप
रचना करती है। यह क्या करती है? (परमार्थसम्पदं) परम और
वह अर्थ-परमार्थ, वही है सम्पत्ति-परमार्थ सम्पत्ति, उसे करती
है (कर्मधारय तथा द्वितीया तत्पुरुष समास से विश्लेषण किया
है), सर्वोत्कृष्ट स्वाधीन अनन्त ज्ञानानन्दरूप अमृत पद की उपलब्धि
कराती है — यह अर्थ है। इसकी प्राप्ति किसे कराती है? (तस्मै)
उसे कराती है/उसे किसे कराती है? (य आख्याति) जो प्रकृष्ट
रूप से कहता है, बाँचता है; मात्र कहता या बाँचता ही नहीं है;
अपितु (शृणोति च) सुनता भी है, अवधारण भी करता है, उसे
कराती है। यह सब वह कैसे करता है? (आदरात्) विनयपूर्वक
करता है। वह किसे पढ़ता-सुनता है? (एतत् वाङ्मयं)
इस शब्द सन्दर्भ/शास्त्र को पढ़ता-सुनता है। क्या करके यह
करता है? (परिभाव्य) परिशीलन करके यह करता है। किसका

शब्द सन्दर्भम्। किं कृत्वा? परिभाव्य परिशील्य। किं? स्वतत्त्वं
निजात्मस्वरूपम्। कथं? इति पूर्वोक्तप्रकारेण।

यः सविनयं स्वरूपसंबोधकमेतत् ग्रन्थसन्दर्भमधीत्यात्रो-
क्तमात्मतत्त्वं पुनः-पुनर्भावयति ज्ञात्वा श्रद्धायाचरति मनसाभ्य-
स्यति परेभ्यो भव्येभ्यो व्याख्याय बोधयति, यश्च श्रोता सादरं
शृणोति, सः तत्फलेन पुण्याभ्युदयान् भुंक्त्वान्ते कर्माणि संवृत्य
निर्जीर्य च परमनिःश्रेयसरूपमात्मनीनं ज्ञानानन्दपदं चिर-
मनुभुंजानः सदा सिद्धे स्वरूप एव तिष्ठतीति एषा 'स्वरूप-
सम्बोधन-पंचविंशतिका' मुमुक्षुभिर्निरन्तरं मनसा, वचसा,
वपुषा अनुभाव्य, व्याख्येया, श्रोतव्या चेति शुभम् ॥२५॥

परिशीलन करके करता है? (स्वतत्त्वं) निजात्मस्वरूप का
परिशीलन कर यह करता है। परिशीलन कैसे करता है? (इति)
पहले कही गई पद्धति से परिशीलन करता है।

जो विनयपूर्वक इस स्वरूप का सम्बोधन कराने वाले सन्दर्भ
ग्रन्थ का अध्ययन कर, इसमें कहे गए आत्मतत्त्व की बारम्बार भावना
करता है; उसे जानकर, उसका श्रद्धान कर, उसी रूप आचरण करता
है; मनोयोग पूर्वक अभ्यास करता है, दूसरे भव्यजीवों को व्याख्यान
द्वारा बोध देता है, और जो श्रोता विनय पूर्वक उसे सुनता है, वह
उसके फल में पुण्यरूप अभ्युदय (भौतिक सुख) को भोगकर, अंत
में कर्मों का संवर और निर्जरा करके परम-निःश्रेयसरूप अपने
ज्ञानानन्द पद को चिरकाल पर्यन्त भोगते हुए, सदा सिद्धस्वरूप में ही
अवस्थित रहता है; अतः मुमुक्षुओं को इस 'स्वरूपसम्बोधनपंच-
-विंशतिका' का मन से अनुभव करना चाहिए (इसके प्रतिपाद्य
विषय/शुद्धात्मतत्त्व का अनुभव करना चाहिए), वचन से व्याख्यान
करना चाहिए और शरीर से सुनना चाहिए - इससे कल्याण होगा ॥२५॥



स्वरूप-सम्बोधन पद्यों की वर्णानुक्रमणिका

पद्य	क्रमांक	पृष्ठांक
इति स्वतत्त्वं परिभाव्य...	२६	९०
इतीदं सर्वमालोच्य...	१६	६०
इत्याद्यनेकधर्मत्वं...	९	३९
कर्ता यः कर्मणां भोक्ता...	१०	४४
कषायैः रंजितं चेतः...	१७	६३
ततस्त्वं दोषनिर्मुक्त्यै...	१८	६६
तथाप्यतीव तृष्णा वा...	२१	७४
तदेतन्मूलहेतोः स्यात्...	१५	५८
दर्शनज्ञानपर्यायेषूत्तरो...	१३	४९
नानाज्ञानस्वभावत्वा...	६	२७
नावक्तव्यः स्वरूपाद्यैः...	७	३०
प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैः...	३	१४
मुक्तामुक्तैकरूपो...	१	२
यथावद्वस्तुनिर्णीतिः...	१२	४८
यस्य मोक्षेऽपि नाकांक्षा...	२२	७५
स्वदेहप्रमितश्चायं...	५	२३
स्वं परं चेति वस्तु त्वं...	२०	७१
स्वं परं विद्धि तत्रापि...	२४	८३
स्वः स्वं स्वेन स्थितं...	२५	७
सद्दृष्टिज्ञानचारित्र...	११	४७
स स्याद् विधिनिषेधात्मा...	८	३५
सापि च स्वात्मनिष्ठत्वात्...	२३	७९
सोऽस्त्यात्मा सोपयोगोऽयं...	२	८
हेयोपादेयतत्त्वस्य...	१९	६९
ज्ञातादृष्टाहमेकोहं...	१४	४९
ज्ञानाद्भिन्नो न चाभिन्नो...	४	१९

संस्कृत पद्य

मुक्तामुक्तैकरूपो यः, कर्मभिः संविदादिना ।
अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्तिं नमामि तम् ॥१॥
सोऽस्त्यात्मा सोपयोगोऽयं, क्रमाद्धेतुफलावहः ।
यो ग्राह्यग्राह्यनाद्यन्तः, स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः ॥२॥
प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः ।
ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चोतनाचेतनात्मकः ॥३॥
ज्ञानाद्भिन्नो न चाभिन्नो, भिन्नाभिन्नः कथंचन ।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं, सोऽयमात्मेति कीर्तितः ॥४॥
स्वदेहप्रमितश्चायं, ज्ञानमात्रोऽपि नैव सः ।
ततः सर्वगतश्चायं, विश्वव्यापी न सर्वथा ॥५॥
नानाज्ञानस्वभावत्वादेकोऽनेकोऽपि नैव सः ।
चेतनैकस्वभावत्वादेकानेकात्मको भवेत् ॥६॥
नावक्तव्यः स्वरूपाद्यैः, निर्वाच्यः परभावतः ।
तस्मान्नैकान्ततो वाच्यो, नापि वाचामगोचरः ॥७॥
स स्याद्विधिनिषेधात्मा, स्वधर्मपरधर्मयोः ।
समूर्तिर्बोधमूर्तित्वादमूर्तिश्च विपर्ययात् ॥८॥
इत्याद्यनेकधर्मत्वं, बन्धमोक्षौ तयोः फलम् ।
आत्मा स्वीकुरुते तत्तत्कारणैः स्वयमेव तु ॥९॥
कर्ता यः कर्मणां भोक्ता, तत्फलानां स एव तु ।
बहिरन्तरुपायाभ्यां, तेषां मुक्तत्वमेव हि ॥१०॥
सद्दृष्टिज्ञानचारित्रमुपायः स्वात्मलब्ध्ये ।
तत्त्वे याथात्म्यसंस्थित्यमात्मनो दर्शनं मतम् ॥११॥
यथावद्वस्तुनिर्णीतिः, सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत् ।
तत्त्वार्थव्यवसायात्मा, कथंचित् प्रमितेः पृथक् ॥१२॥
दर्शन- ज्ञान- पर्याये- शूत्रोत्तर- भाविषु ।
स्थिरमालम्बनं यद्वा, माध्यस्थ्यं सुखदुःखयोः ॥१३॥

ज्ञातादृष्टाहमेकोऽहं, सुखे दुःखे न चापरः ।
 इतीदं भावनादाद्दर्यं, चारित्रमथवा परम् ॥१४ ॥
 तदेतन्मूलहेतोः स्यात्कारणं सहकारकम् ।
 यद्बाह्यं देशकालादि, तपश्च बहिरंगकम् ॥ १५ ॥
 इतीदं सर्वमालोच्य, सौस्थ्ये दौःस्थ्ये च शक्तितः ।
 आत्मानं भावयेन्नित्यं, रागद्वेषविवर्जितम् ॥१६ ॥
 कषायैः रंजितं चेतस्तत्त्वं नैवावगाहते ।
 नीलीरक्तेऽम्बरे रागो, दुराधेयो हि कौकुमः ॥१७ ॥
 ततस्त्वं दोषनिर्मुक्त्यै, निर्मोहो भव सर्वतः ।
 उदासीनत्वमाश्रित्य, तत्त्वचिन्ता परो भव ॥१८ ॥
 हेयोपादेयतत्त्वस्य, स्थितिं विज्ञाय हेयतः ।
 निरालम्बो भवान्यस्मादुपेये सावलम्बनः ॥१९ ॥
 स्वं परं चेति वस्तु त्वं, वस्तुरूपेण भावय ।
 उपेक्षाभावनोत्कर्षपर्यन्ते शिवमाप्नुहि ॥२० ॥
 तथाप्यतीव तृष्णा वा, हन्त माभूत् तवात्मनि ।
 यावत् तृष्णाप्रसूतिः स्यात् तावन्मोक्षं न यास्यसि ॥२१ ॥
 यस्य मोक्षेऽपि नाकांक्षा, स मोक्षमधिगच्छति ।
 इत्युक्तत्वाद्द्विदान्वेषी, कांक्षां न क्वापि योजयेत् ॥२२ ॥
 सापि च स्वात्मनिष्ठत्वात्सुलभा यदि चिन्त्यते ।
 आत्माधीने सुखे तात! यत्नं किं न करिष्यसि ॥२३ ॥
 स्वं परं विद्धि तत्रापि, व्यामोहं छिन्धि किंत्विमम् ।
 अनाकुलस्वसंवेद्ये, स्वरूपे तिष्ठ केवले ॥२४ ॥
 स्वः स्वं स्वेन स्थितं स्वस्मै, स्वस्मात्स्वस्याविनश्यम् ।
 स्वस्मिन् ध्यात्वा लभेत्, स्वोत्थमानन्दममृतं पदम् ॥२५ ॥

इति स्वतत्त्वं परिभाव्य वाङ्मयं,
 य एतदाख्याति श्रृणोति चादरात् ।
 करोति तस्मै परमार्थसम्पदं,
 स्वरूपसम्बोधनपंचविंशतिः ॥२६ ॥



हिन्दी पद्य

सर्व कर्म से मुक्त हुए पर, जो ज्ञानादि युक्त सदा ।
 एक रूप अक्षय परमात्म, ज्ञानमूर्ति को नमन सदा ॥१॥
 वह यह उपयोगात्मक आत्मा, क्रम से कारण कार्यमयी ।
 ग्राह्यग्राही अनाद्यन्त है, व्यय उत्पत्ति ध्रौव्यमयी ॥२॥
 प्रमेयत्व आदि धर्मों से अचित् ज्ञान-दृग से चेतन ।
 अतः आत्मा युगपत् ही है, अचेतनात्मक व चेतन ॥३॥
 नहीं ज्ञान से भिन्न अभिन्न रु, भिन्नाभिन्न कथंचित् है ।
 पूर्वोत्तर सब ज्ञान दशा से, वह यह आत्मा पूरित है ॥४॥
 अपने देह प्रमाण कहा, पर नहीं सर्वथा देहाकार ।
 ज्ञानमात्र भी कहा, तथापि मात्र नहीं है ज्ञानाकार ॥
 अतः सर्वगत है यह आत्म, जगव्यापी भी कहा गया ।
 पर न सर्वथा जगव्यापी है, अतः कथंचित् सभी कहा ॥५॥
 नाना ज्ञान स्वभावरूपता से है एकानेक तथा ।
 एकानेक नहीं है वह ही, अतः कथंचित् सभी कहा ॥
 चेतन एक स्वभावरूपता, से है एक तथापि वह ।
 अनेकात्मक भी होता है, अनेकान्तमय चेतन यह ॥६॥
 अवक्तव्य है नहीं स्वरूपादि से पर परभावों से ।
 अवक्तव्य है अतः वाच्य निर्वाच्य कहा है सदा उसे ॥७॥
 अपने धर्मों का वा परधर्मों का क्रम से विधि-निषेध ।
 करने वाला सदा आत्मा, उसमें मूर्तिक का प्रतिषेध ॥
 तो भी ज्ञानमूर्ति होने से, सदा मूर्तिक कहा गया ।
 पर है पृथक् शरीरादि से, अतः अमूर्तिक सदा रहा ॥८॥
 इत्यादि अनेक धर्मों को, बंध-मोक्ष उनके फल को ।
 स्वयं उन्हीं के कारण से, आत्म धारण करता सबको ॥९॥
 जो कर्मों का कर्ता वह ही, उनके फल का भोक्ता भी ।
 तो भी अन्तरबाह्य उपायों, से होती मुक्ति उनकी ॥१०॥
 स्वात्मलब्धि का है उपाय, सम्यग्दर्शन सत ज्ञान चरण ।
 हो संस्थिति याथात्म्य तत्त्व में, यही आत्मा का दर्शन ॥११॥
 वस्तु के वास्तविक रूप का, निर्णय सम्यग्ज्ञान कहा ।
 है प्रदीपवत निर्णायक वह, स्व-पर सर्व वस्तुओं का ॥
 ज्ञान का सुफल है जो प्रमिति, उसे कथंचित् भिन्न कहा ।
 तथा ज्ञान से अभिन्न भी वह, यही अपेक्षावाद अहा ॥१२॥

होती हुई ज्ञान-दर्शन, पर्यायों में स्थिर होना।
 या उनका आलम्बन, या सुख-दुख में समभावी होना ॥१३॥
 मात्र सदा मैं ज्ञाता-दृष्टा, सुख-दुख में भी एक सदा।
 नहीं दूसरा कोई मेरा, मैं हूँ नित निरपेक्ष महा ॥
 इसप्रकार की आत्मभावनामय दृढ़ता चारित्र्य कहा।
 अथवा परम स्वरूपलीनता है सम्यक्चारित्र्य कहा ॥१४॥
 उन इन मूल कारणों के जो, भिन्न बाह्य सहकारक हैं।
 देश काल आदि तप आदि, उन्हें कहा उपकारक हैं ॥१५॥
 इसप्रकार सब कर विचार, अविरोद्ध-विरुद्ध प्रसंगों में।
 आत्मशक्ति से सतत भावना, करो विरागी आत्म में ॥१६॥
 ज्यों दुष्कर है नील वस्त्र पर, कुंकुम रंग का चढ़ पाना।
 त्यों कषाय से रंजित मन का, आत्मतत्त्व में रम पाना ॥१७॥
 अतः दोष निर्मुक्ति हेतु, पूर्णतया निर्मोही हो।
 उदासीनता का आश्रय ले, तत्त्वचिंतवन में रत हो ॥१८॥
 हेयादेय स्वरूप तत्त्व का, जान हेय पर आलम्बन।
 अतः तजो वा ग्रहण करो, है उपादेय स्व आलम्बन ॥१९॥
 वस्तु रूप से स्व-पर वस्तु, की तू नित्य भावना कर।
 जिससे हो परिपूर्ण उपेक्षा, भाव प्राप्त हो शिव सुखकर ॥२०॥
 यद्यपि आत्मा उपादेय है, तदपि न कर अतीव कांक्षा।
 जब तक कांक्षा होती रहती, तब तक न हो मुक्त दशा ॥२१॥
 जिसे न मुक्ति की भी कांक्षा, मुक्ति होती उसकी ही।
 ऐसा कथन अतः हित शोधक, कर ना कांक्षा कहीं कभी ॥२२॥
 स्वात्मनिष्ठ होने से है वह, सुलभ यदि ऐसा चिंतन।
 तो फिर आत्माधीन सुखों की, प्राप्ति हेतु क्यों नहीं प्रयत्न? ॥२३॥
 स्व-पर को समझो तथापि, इस भेदभाव को भी छोड़ो।
 मात्र निराकुल स्वसंवेदन, गम्य स्वरूप में स्थिर हो ॥२४॥
 स्वयं स्वयं के द्वारा स्वस्थित, स्व को स्व के लिए सदा।
 स्व से स्व के स्वोत्पन्न, अविनाशी आनन्द अमृत का ॥
 स्व में ध्यान लगाएगा तो, अविनाशी पद पाएगा।
 इस षट्कारक के अभेद से, सिद्ध स्वयं बन जाएगा ॥२५॥
 पच्चीस श्लोकों मयी, 'स्व-रूपसम्बोधन' कृति।
 को जो सदा बहुमान से, पढ़ते सुनाते सुनें भी ॥
 इसमें कहे स्वतत्त्व की, परिभावना करते सदा।
 तो प्राप्त हो परमार्थ वैभव, प्राप्त करते शिव दशा ॥२६॥

